भगवान महावीर के २५ वें शताब्दी-समारोह के उपलक्ष्य में

उत्स एक : धारा अनेक

लेखक की अन्य कृतियां

१—२४. जैन कहानियां, भाग १ से २४	प्रत्येक	३.००
५—३०. जैन कहानियां, भाग २५ से ३०	”	५.००
१—३४. तीन सौ साठ कहानियां, भाग १ से ४	”	३.००
३५. स्मृति को बढ़ाने के प्रकार		२.५०
३६. जनपद विहार		५.००
३७. प्रज्ञा : प्रतीति : परिणाम		३.००
३८. अंक-स्मृति के प्रकार		१.००
३९. ऐकाह्निक पञ्चशती		०.४०
४०. महावीर के सन्देश		०.४०
४१. सत्यम् शिवम्		१.००
४२. आत्म-गीत		०.५०
४३. जम्बू स्वामी री लूर		०.४०
४४. उत्स एक : धारा अनेक		४.००
४५. तीर्थङ्कर ऋषभ तथा चक्रवर्ती भरत		७.००
४६. अध्यात्म योगी महावीर		प्रेस में
४७. महावीर की साधना के प्रकार		”
४८—५४. Jain Stories [Part I to 7]		”

सम्पादित

- भरत-मुक्ति
- आषाढ़भूति
- श्री कालू उपदेश वाटिका
- आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
- अणुव्रत की ओर [भा० १, २]
- आचार्य श्री तुलसी : जीवन-दर्शन
- अन्तर्ध्वनि : विश्व प्रहेलिका
- श्रद्धेय के प्रति
- नैतिक संजीवन
- अहिंसा विवेक
- अहिंसा पर्यवेक्षण
- अणु से पूर्ण की ओर
- आचार्य श्री तुलसी
- नया युग : नया दर्शन

उत्स एक : धारा अनेक

प्रवचन वाणी

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी प्रथम

साहित्य समिति
प्रकाशन विभाग, [illegible] युवक परिषद्
११ पोलक स्ट्रीट, कलकत्ता-१

● Utas Ek : Dhara Enek

by

● Muni Sri Mahendra Kumarji 'Pratham'

● Price-4.00

● प्रकाशक

जब्बरमल दसानी

संयोजक, साहित्य सन्निधि

प्रकाशक विभाग, अग्रगामी युवक परिषद्

११ पोलक स्ट्रीट कलकत्ता-१

● शाखा

● ७२०२ कुतुब रोड, नई दिल्ली-५५

● डी० ५३/६१ बी० गुरुबाग

लक्सारोड, वाराणसी

मूल्य : चार रुपये ★ प्रथम संस्करण : १९७५

मुद्रक : चौराहा (प्रेस) ★ वाराणसी

● Utas Ek : Dhara Anek
by
● Muni Sri Mahendra Kumarji 'Pratham'
● Price-4.00

● प्रकाशक
जवरमल दसानी
संयोजक, साहित्य सन्निधि
प्रकाशक विभाग, अग्रगामी युवक परिषद्
११ पोलक स्ट्रीट कलकत्ता—१

● शाखा
● ७२०२ कुतुब रोड, नई दिल्ली—५५
● बी० ५३/६१ बी० गुरुबाग
लक्सारोड, वाराणसी

मूल्य : चार रुपये ★ प्रथम संस्करण : १९७
मुद्रक : चौराहा (प्रेस) ★ वाराणसी

प्राक्कथन

अनेक जल-धाराएँ टेढ़ी-मेढ़ी गति से चलती हुईं, जब धरा की अनन्त प्यास को शान्त कर उसे शस्य-श्यामला बनाती हैं, तो मानव उस पर झूम उठता है। उस समय होने वाले उसके आनन्द का सीमांकन दुष्प्राप्य हो जाता है। वह उनके तट पर बैठा हुआ बहुधा स्वर्गीय कल्पनाओं में खो जाता है। बहुत बार उसके मन में अनेक प्रश्न तथा जिज्ञासाएँ भी उभरती हैं, जिनकी गहराई में उतर कर वह समाधान पाना चाहता है। सबसे महत्वपूर्ण जिज्ञासा होती है, इन अनेक जल-धाराओं का उत्स कहाँ है? वह उसके सन्धान में प्रवृत्त होता है। कुछ प्रयत्न के अनन्तर जब वह मूल केन्द्र पर पहुँच जाता है और अनेक धाराओं के एक ही उत्स को पाता है, अत्यन्त विस्मित होता है प्रकृति का नियम है कि उसके ही उत्स को वह अनेक धाराओं में विभक्त कर मानव-हित में प्रवृत्त कर देती है। इसी प्रकार चिन्तन का उत्स भी एक ही है, किन्तु, जब वह आकार ग्रहण करता है, अनेक धाराओं में रूपान्तरित हो जाता है। समय-समय पर मेरा चिन्तन उत्स भी वर्णात्मक अनेक धाराओं में परिणत हुआ, जिनकी फलश्रुति 'उत्सएक : धारा अनेक' है।

मनोविज्ञान, अभिनव समाज-दर्शन, योग, इतिहास व साहित्य का अनुसन्धान मेरे अभिप्रेत रहे हैं। इन पहलुओं पर चिन्तन करते रहने का अभ्यस्त हो चुका हूँ। जब कभी आवश्यकता होती है, इस ओर लेखिनी भी चल पड़ती है, जो चिन्तन को सहज स्थायित्व प्रदान करती है। मैं स्वयं इस निर्णय को अपने हाथ में नहीं लूंगा कि इन सब में स्थायित्व के कितने प्रतिशत हैं और सामायिकता के तत्त्व कितने प्रतिशत यह निर्णय तो विज्ञ पाठकों का ही होगा। किन्तु, मुझे इसकी प्रसन्नता

है कि जब भी ये आलेख पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जन-जन तक पहुँचे, न केवल मेरे आत्मीयजनों ने, आपितु तटस्थ समीक्षकों ने भी मुझे बधाईयां देकर अत्यधिक उत्साहित किया है। इस संग्रह के कुछ लेख तो ऐसे हैं, जो अनेक दैनिक, साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं में बहु चर्चित होकर जन-चेतना को नये चिन्तन की ओर प्रवृत्त करने में सहयोगी बने हैं। प्रस्तुत पुस्तक में एक ओर अनुसन्धान की परिक्रमा है, तो दूसरी ओर पूंजीवाद के अवशेषों तथा धर्माचार्यों के गुरुडम पर भी तीखा प्रहार। कुल मिलाकर यह कृति जहाँ विगत को वर्तमान के साथ योजित करती है, वहाँ वर्तमान की धूमिलता को निरस्त कर अनागत को स्वर्णिम करने की क्षमता को भी उजागर करने में भी योगभूत हो सकेगी, ऐसा विश्वास है।

मर्यादा-पुरुष आचार्य श्री भिक्षु को आराध्य के रूप में पाकर कृतकृत्य हूँ, वहाँ उनके द्वारा प्रगति का सम्बल पाकर भी परितृप्त हूँ। जिस प्रकार अब तक उनका मुझे आधार मिला है, भविष्य में उससे और अधिक के लिये आकांक्षी हूँ, ताकि उनके द्वारा निदर्शित साधना पथ पर अग्रसर होकर उस ज्योति को प्रज्वलित रखने में अपना योग अर्पित कर सकूँ।

अणुव्रत परामर्शक मुनिश्री नगराजजी डी० लिट्० महान् विभूति हैं। वे अपने सहवर्तियों को प्रगति का जितना अवकाश देते हैं, अन्य साधकों में वह उदारता विरल ही दृश्य होती है। मुझे उन्होंने बनाया और मेरी प्रगति को सदैव अपनी प्रगति माना। मैं उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धावनत हूँ।

वि० सं० २०२१ माघ शुक्ला ७
वाराणसी

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'

उनकी सक्रियता अत्यधिक मौज-शौक, व्यर्थ के वाद-विवाद, उखाड़-पछाड़, हास्य-विनोद, सिनेमा-दर्शन, कुव्यसनों के पोषण आदि में मुखर हो उठती है। बहुत-सारा समय राजनैतिक नेताओं के अनुग्रह से हड़ताल, जुलूस, नारेबाजी, घेराव आदि असामाजिक प्रवृत्तियों में चला जाता है। अपने निर्माण, अध्ययन, सांस्कृतिक ज्ञान आदि से वे बहुत दूर रह जाते हैं। परिणाम यह होता है, जब उन पर पारिवारिक दायित्व आता है, वे लड़खड़ा जाते हैं और अपनी असफलता के लिए अभिभावकों तथा सामाजिक व्यवस्थाओं को कोसने लगते हैं। वे अपनी त्रुटि के रंज का जहर वहाँ पर उंडेल कर खीज और निराशा के शिकार हो जाते हैं।

सहज ही यह चिन्तन उभरता है, युवकों की सक्रियता के दुरुपयोग को कैसे रोका जाये ? सामान्यतः देखा जाता है, किशोरावस्था को पार कर ज्यों ही जवानी की देहली में पैर रखा जाता है, अभिभावकों, समाज के अग्रणी व्यक्तियों और धर्माचार्यों द्वारा उचित मार्ग-दर्शन नहीं दिया जाता। बहुत सारे नव युवकों को तो भगवान् के भरोसे छोड़ दिया जाता है। जिधर चाहें, वे जा सकते हैं। उनके लिए कोई दिशा संकेत नहीं होता है। यदि वे सही रास्ते पर चल पड़ते हैं, तो उनके भाग्य की बात है। यदि भटक जाते हैं, तो उन्हें जी भर कर कोसा जाता है, बुरा-भला कहा जाता है और यह खिताब भी मिल जाता है कि आजकल के युवक किसी की कुछ सुनते-सुनाते हैं नहीं, अपनी मन मानी ही करते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत सारे अनजान अभिभावक इसका भी निर्णय नहीं कर पाते कि उन्हें अपने नव युवकों को किस ओर बढ़ाना है। समाज के अग्रणी व्यक्ति तो इस बारे में सर्वथा मूक ही हैं। अधिकांश धर्माचार्यों को अपने सम्प्रदाय की सुरक्षा-त्मक प्रवृत्तियों से ही अवकाश नहीं मिलता। युवकों को रचनात्मक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करना तो उनके कार्यक्रम का अंग ही नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि युवक उन्मुक्तता की ओर बढ़ जाते हैं, तो मात्र उन्हें ही दोषी ठहराना कहाँ तक संगत हो सकता है ?

युवा वर्ग : यथार्थ का अंकन व समीक्षण

युवकों की सक्रियता को समाप्त करने की अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा है, उसकी उच्छृंखलता को मिटाकर नियोजित करने की। युवा-शक्ति को जब व्यवस्थित रूप दे दिया जाता है, उसका रचनात्मक रूप निखर उठता है और समाज के लिए वह अनेक रूपों में सर्जनात्मक सिद्ध होती है। नदी में स्वतन्त्रता से बहने वाले पानी की अपेक्षा नहर के रूप में व्यवस्थित होकर आगे बढ़ने वाला पानी खेती के लिए विशेष उपयोगी बन जाता है। यही स्थिति युवकों की है। उन्हें यदि सुनियोजित प्रकार से आगे बढ़ाया जाता है, तो वे अपनी सक्रियता को स्व-हित, परिवार-हित, समाज-हित, राष्ट्र-हित तथा धार्मिक हित के लिए अर्पित कर देते हैं। मार्ग-दर्शन अभिभावकों, समाज के अगुआ व्यक्तियों तथा धर्माचार्यों द्वारा अपेक्षित होता है और सक्रियता युवकों द्वारा। मार्ग-दर्शन और सक्रियता का यह मेल निःसन्देह नये सृजन का प्रतीक बन जाता है।

अनुभव तथा शक्ति का सन्तुलित समन्वय

बहुधा देखा जाता है, युवक विद्रोही हो जाते हैं। उनकी यह विद्रोह-भावना परिवार के प्रति, धर्म के प्रति उभर उठती है। जो बड़ों में चला आ रहा होता है, उसे वे उपयोगी नहीं समझते। बहुत सारे व्यक्तियों का आग्रह होता है, जो युग-युगों से चला आ रहा है, उसमें परिवर्तन की अपेक्षा नहीं है। आधुनिकता के नाम पर जो नया आ रहा है, वह विकृत है, समाज-विरोधी है, धर्म-विरोधी है; अतः उसे ठुकरा दिया जाये। एक ओर नये के प्रति नफरत, प्राचीन के प्रति व्यामोह है, तो दूसरी ओर उक्त प्रगम विचार के प्रति विद्रोह। यह प्राचीन को दकियानूसी व निरुपयोगी मानता है और स्वतन्त्रता से सांस लेना आवश्यक। व्यामोह और भावुकता का यह द्वन्द्व पूर्व पीढ़ी तथा वर्तमान पीढ़ी के बीच विभेदक रेखा बन जाता है, जो विद्रोह के रूप में फूटकर पारस्परिक टकराव में बदल जाता है।

यह भी देखा जाता है कि युवक प्रगति के लिए मुक्त अवकाश

चाहते हैं। वे चालू पद्धतियों में उन्मेष के हामी होते हैं। उनका चिन्तन है, बँधे-बँधाये दायरे में रहकर व्यवसायिक, शैक्षणिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में प्रगति नहीं की जा सकती। इस वैज्ञानिक युग में नई पद्धतियां विकास का विशेष निमित्त बन सकती हैं, अतः उनसे मुँह क्यों मोड़ा जाये? वे मार्ग-दर्शन को बुरा नहीं मानते, किन्तु, प्रतिक्षण का आवश्यक-अनावश्यक हस्तक्षेप उन्हें खोखला देता है। वे चाहते हैं, उन पर विश्वास किया जाये। हो सकता है, वे किसी कार्य में असफल भी हो जायें। किन्तु, वह असफलता निराशा को प्रश्रय देने वाली न होकर भावी प्रगति का आधार बन सकती है। जब तक दायित्व नहीं डाला जायेगा, कार्य के साथ किसी का तादात्म्य भी नहीं जुड़ पायेगा। बुजुर्ग सारा संचालन अपने हाथ में रखना चाहते हैं। वे चाहते हैं, युवक उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्य ही करते रहें। उनके द्वारा खींची गई रेखा से आगे न बढ़ें। जीवन भर वे उनकी नकेल में रहें। जिस युवक के मन में स्वतन्त्र व्यक्तित्व-निर्माण की आकांक्षा होगी, वह इसे अपने लिए अर्गला समझेगा। विनय और पारम्परिक पद्धति का अक्षुण्ण रखता हुआ वह बोल कुछ भी नहीं पायेगा, किन्तु, उसकी घुटन बढ़ती चली जायेगी, जो उसकी कार्यजा शक्ति को एक दिन पूर्णतः कुण्ठित कर देगी।

प्राचीन युग में सम्पन्न परिवारों के युवक अपने कर्तृत्व-विकास के लिए सुख-सुविधाओं को ठुकराकर अन्य प्रदेशों में व्यापार के निमित्त भ्रमण किया करते थे। वहाँ से अनुभवों तथा सम्पत्ति का अर्जन कर लौटते तथा अपने परिश्रम पर गौरव का अनुभव करते। वैसा करते हुए उन्हें अनेक संकटों का सामना करना पड़ता था। उस युग में पैतृक विरासत में प्राप्त प्रतिष्ठा तथा वैभव को अपनी थाती समझते हुए भी उसे ही सब कुछ करार नहीं देते थे। अपने परिश्रम को उसमें अनुस्यूत करना वे अपना प्रथम कर्तव्य मानते थे।

पिता भी [illegible] अपनी ढलती अवस्था के आरम्भ में ज्येष्ठ पुत्र को गृह-दायित्व सौंपकर [illegible]

अन्य कामों से भी मुक्त हो जाते थे। मुक्त व्यक्ति अपना शेष समय धार्मिक अनुचिन्तन तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास में ही व्यतीत किया करते थे। जिस ज्येष्ठ पुत्र को दायित्व सौंपा जाता था, उसके प्रशिक्षण व परीक्षण की भी कई विधियाँ हुआ करती थीं। उनमें उत्तीर्ण होने के बाद पारिवारिकों की उपस्थिति में कार्य-भार व्यवस्थित विधि से सौंप दिया जाता था तथा गृह-प्रमुख तटस्थ पर्यवेक्षक तथा परामर्शक के रूप में रहता था। दोनों ही पद्धतियों में कर्तव्य का स्वतन्त्र विकास होता था। पहली पद्धति में व्यक्ति स्वयं का निर्माण स्वयं के द्वारा सुदूर प्रदेश में करता था तथा दूसरी पद्धति में गृह-प्रमुख के मार्ग-दर्शन में।

वर्तमान युग सर्वथा उल्टा है। अभिभावकों का विश्वास युवकों पर टिक ही नहीं पा रहा है। वे अपना दायित्व छोड़ने के लिए कतई प्रस्तुत नहीं हैं, चाहे व्यवसायिक प्रतिष्ठान हो, चाहे सार्वजनिक संस्थान। उनका तर्क है, युवकों में कर्तृत्व तथा अनुभवों का सर्वथा अभाव है। उन पर जिस कार्य को छोड़ा जायेगा, उसे वे रसातल में पहुँचा देंगे। उन्हें करना-धरना कुछ आता ही नहीं। केवल बातों में ही वे कुशल होते हैं। बातों से व्यवसाय तथा सार्वजनिक संस्थान नहीं चला करते। युवकों का कहना है, हमें कार्य का अवकाश दिया ही नहीं जाता। बांध कर रखा जाता है। बन्धन में कर्तृत्व का विकास कैसे हो सकता है? मार्ग-दर्शन-पूर्वक यदि हमें मौका दिया जाये, तो हम प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर हो सकते हैं।

यथार्थता यह है कि दोनों ओर अतियों को प्रश्रय दिया जाता है। बुजुर्गों के अनुभव बहुत प्रौढ़ होते हैं। युवकों में शक्ति का अद्भुत स्रोत होता है। दोनों का सन्तुलित समन्वय आवश्यक होता है। बहुत बार अनुभवों तथा शक्ति का मेल नहीं हो पाता। दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। फिर दोनों ओर से कोसना आरम्भ हो जाता है। मन फट जाता है और दुराव बढ़ने लगता है। बुजुर्ग युवकों की

भार लगने लगता है तथा ऊबकर अवांछित कदम उठाने के लिए भी उद्यत हो जाता है। युवक अपनी सक्रियता का जब सही उपयोग नहीं कर पाते हैं, तब भटक जाते हैं। किसी भी परिस्थिति को देखकर सन्तुलन खो बैठना तथा अपने प्रतिकूल मानना असन्तोष का मुख्य निमित्त है। हर स्थिति में सन्तुष्ट रहना तथा अपनी योजनाओं को क्रियान्वित करने में सजग रहना ही शक्ति व समय का सदुपयोग है। असन्तोष युवा वर्ग के लिए अभिशाप है।

उच्छृंखल क्यों ?

युवा वर्ग की उच्छृंखलता की ओर भी बहुत बार अंगुलियाँ उठती हैं। बुजुर्ग व्यक्तियों को जब किसी काम से युवकों को रोकना होता है, तब उच्छृंखलता को आड़ बनाकर वे अपनी चाल चलते हैं। सामान्यतया देखा जाता है, युवकों में कार्य के प्रति विशेष उत्साह होता है। करना या मरना उनका मुख्य नारा होता है। किसी भी कार्य में आँख मूँदकर तत्काल कूद पड़ते हैं। फिर एक वर्ग उसे असफल करने के लिए पहाड़ के रूप में तन कर खड़ा हो जाता है। युवक यदि अफसल हो जाते हैं, तो उच्छृंखल कह कर उन्हें बदनाम कर दिया जाता है और सफल हो जाते हैं, तो उसकी गणना विशिष्ट कार्यों में नहीं करते। उनकी ओर उदासीनता ही बरती जाती है। यहाँ से पुनः विद्रोह भड़क उठता है और दोनों पीढ़ियों के बीच संघर्ष ठन जाता है। उच्छृंखलता तब होती है, जब शक्ति का बहाव अवमानना की ओर होता है। जब सत्कर्म के रूप में परिणत होकर वह सामने आती है, उस समय अपनी अहम्मन्यता अक्षुण्ण नहीं रही, केवल इसलिए उसे उच्छृंखलता की मान्यता देना, गले नहीं उतरता।

युवक उच्छृंखल क्यों होते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकेगा, अभिभावकों द्वारा पुनः-पुनः उनका तिरस्कार किया जाना, उनकी कम-अधिक योग्यता की अवगणना किया जाना, उनकी शक्ति, कलात्मकता तथा सक्रियता को पुनः-पुनः नकारा जाना आदि उनमें मुख्य

करने लगता है। ज्यों ही अकेला हुआ, जीवन नीरस, अलोना तथा शुष्क हो जायेगा। विज्ञ व्यक्ति वह होगा, जो हठ, अहं, क्रोध एवं आवेश-रूप चार दैत्यों को अपने में पनपने ही न दे।

बहुधा यह अनुभव किया जाता है, जीवन में सहज समर्पण होना चाहिए। समर्पित व्यक्ति जीवन की अनेक अबूझ पहेलियों का सुगमता से समाधान प्राप्त कर लेता है। उसके हिस्से में फिर प्रगति-ही-प्रगति होती है। आने वाली अन्य अनेक कठिनाइयों को ओढ़ने वाले दूसरे होते हैं। वह उनसे सुगमता से बचता चलता है और उसकी गति सदैव निर्बाध होती चली जाती है। यह जहाँ औपदेशिक सत्य है, वहाँ अनुभूत-सत्य भी है। इस चिन्तन के साथ भी कई प्रकार के प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, क्या इस प्रक्रिया से उसके स्वाभिमान को ठेस नहीं पहुँचती है? कठिन परिस्थितियों को ओढ़ने वाला दूसरा समर्थ व्यक्ति होता है, तो क्या उससे व्यक्ति की कठिनाइयों को झेलने की क्षमता में न्यूनता नहीं आती है? यदि ये दोनों प्रश्न खड़े रहते हैं, तो व्यक्ति-विकास में समर्पण को सहायक कैसे माना जा सकता है?

सामान्यतः तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं—

(१) कर्तृत्व के आधार पर व्यक्तित्व की स्वयं निर्मिति करते हैं। उनका कर्तृत्व समर्थ, बेजोड़ एवं सीमातीत होता है। वे आँधी की तरह आते हैं, तूफान की तरह जीते हैं और करोड़ों व्यक्तियों को अपने अनुगत अपनी ही गति से लिये चलते हैं। अधिकतम पाँच या छः दशाब्दि तक वे जीते हैं और तूफानी वेग को अपने में थामे ही प्रयाण कर जाते हैं।

(२) कर्तृत्व को उजागर करने की क्षमता लिये इस धरती पर आते हैं और बहुत कुछ करने की ललक अपने में समाहित करते हुए जीते हैं। उनसे भी समाज बहुत आशान्वित रहता है। पर, उनकी गति तूफानी नहीं होती।

तक उसके लिए ही काम करते रहना है। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के समक्ष कार्य की प्रधानता होगी। वह कार्य करता जायेगा। सफलता पर कृतानुभूति करना उसका स्वभाव नहीं होगा। प्रशंसा जो दूसरे ही मनायेंगे। उसे अपनी सफलताओं को याद करने का भी अवकाश नहीं होगा और न वह ऐसा अवकाश चाहेगा भी। यदि वह हर्ष मनाने में संलग्न हो जायेगा, उसकी गति मन्द हो जायेगी और निष्पत्ति की अपेक्षा रखने वाली योजनाएं खड़ी-खड़ी देखती ही रह जायेंगी। क्रियाशील व्यक्ति को यह मान्य नहीं होगा।

अहं का ही पर्याय

कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि महत्त्वाकांक्षा के साथ चुपके से अहं आकर बैठ जाता है। कुछ समय तक वह अपना आभास भी नहीं होने देता और छुपे रुस्तम की तरह अपना जाल फैलाता रहता है। महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति सावधान होता है, तो वह तत्काल इस स्थिति को भांप लेता है और अहं को अपने पास फटकने नहीं देता। तत्काल ही उसका समुचित प्रबन्ध कर देता है। यदि उस ओर उसकी दृष्टि नहीं घूमती है, तो अवसर पाकर वह महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति को कुछ कदम चलने के बाद गिरा देता है, फिर उसका सँभल पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

कुछ व्यक्ति महत्त्वाकांक्षा को उचित नहीं मानते। उनका कहना है, यह तो अहं का ही पर्याय है। पर, वास्तविकता यह नहीं है। महत्त्वाकांक्षा तो प्रसरणशील व्यक्तित्व का उपादान है। जब तक वह नहीं होगी, किसी भी प्रवृत्ति का उदित हो पाना भी सम्भव नहीं है। जिन व्यक्तियों के द्वारा महान् कार्य अनुष्ठित हुए हैं, उन सबके मन में समाज-हित की व्यग्रता परिलक्षित होती है। वह व्यग्रता महत्त्वाकांक्षा

हीन भावना को मिटाने के प्रकार

प्रश्न यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि जो हीन भावना-ग्रस्त होते हैं, क्या उनमें भी कोई शक्ति-संचार किया जा सकता है? क्या उनको भी उपयोगी बनाया जा सकता है? यदि बनाया जा सकता है, तो उसके प्रकार क्या हो सकते हैं?

जिन व्यक्तियों की अनुभूति-शक्ति प्रबल होती है, उसे मोड़ दिया जा सकता है। जो सर्वथा अनुभव-शून्य होते हैं उनके पीछे शक्ति का व्यय अधिक होगा और परिणाम नगण्य। अनुभूति-प्रवण व्यक्ति के लिए हमारा पहला प्रकार होगा, वह जो कुछ भी कर रहा है, उसकी अल्प सफलता को भी पूर्ण सफलता के रूप में परिणत कर पुनः-पुनः उसे यह आभास करवाना कि तुमने बहुत अच्छा कार्य किया है। हर व्यक्ति तो ऐसा कर ही नहीं पाता है। ऐसा सामर्थ्य–सम्पन्न व्यक्ति तो कोई विरल ही होता है। इस प्रक्रिया के माध्यम से उसके सुप्त चैतन्य को जागृत किया जाये। उसके कार्य की त्रुटियों को कुछ समय तक प्रकट ही न किया जाये। जिस समय यह आभास हो जाये कि मूर्च्छित शक्ति का जागरण हो चुका है, तब धीरे-धीरे उसकी त्रुटियों की ओर संकेत किया जाये। उस समय भी भाषा-प्रयोग में सजगता अपेक्षित होगी। उस समय यह नहीं कहा जायेगा, देखो, तुम्हारी अमुक त्रुटि हुई है। वहाँ कहा जायेगा, इस कार्य को अमुक प्रकार से करने से विशेष सुन्दरता आ सकती है। तुम इस प्रकार थोड़ा मोड़ दे दो। कुछ ही समय बाद तुम भी विशेष व्यक्तियों की श्रेणी में गिने जाओगे। उस व्यक्ति को भी आभास होने लगता है, मेरे में भी काफी क्षमता है। मेरी शक्तियों का विकास हो रहा है। मुझे भी अमुक प्रकार से थोड़ा परिवर्तन कर लेना चाहिए। इस प्रकार उसका क्रम उन्नतता की ओर जायेगा और वह समाज के लिए उपयोगी भी बन जायेगा।

किसी व्यक्ति में कुछ क्षमताएँ भी हैं और कुछ न्यूनताएँ भी। कोई उसकी क्षमताओं को न्यून करता है और न्यूनताओं को बढ़ा

आदान का युग समाप्त होता है और प्रदान भी उसके साथ अनुस्यूत हो जाता है।

बहुधा व्यक्ति का दृष्टिकोण स्वार्थ-परक होता है। वह लेना अधिक जानता है और देना कम या बिल्कुल भी नहीं। इसका तात्पर्य होता है, व्यक्ति सामूहिक दायित्व का अनुभव कर ही नहीं पाता है। समूह व्यक्ति की उन्नत कल्पनाओं का मूर्त आकार होता है। उसे पुष्ट करने से यदि व्यक्ति पीछे खिसकता है, तो वह स्वयं की कल्पनाओं का ही नकारने की ओर बढ़ता है। समूह की पुष्टि तथा अभिवृद्धि व्यक्त की स्वयं की पुष्टि और अभिवृद्धि होती है, इसका बहुधा अनुभव ही नहीं किया जाता।

प्रत्येक व्यक्ति विकास चाहता है। जो कल्पना-प्रवण होते हैं, उनके विकास की परिधि भी विशाल होती है। व्यष्टि में विकास या ह्रास कुछ भी नहीं होता। विकास की कल्पना समूह में ही पनपती है, फैलती है और फलती है। इस स्थिति में समूह की अवहेलना कर अपने ही विकास के मार्ग को अवरुद्ध किया जाता है।

कार्य की प्रियता

समूह में खपना, उसके चिन्तन को परखना, उसकी गतिविधियों को पहचानना अत्यन्त आवश्यक होता है। बहुत कुछ अनुकूल भी होता है और बहुत कुछ प्रतिकूल भी। अनुकूल को अनुकूल बनाये रखना तथा प्रतिकूल को भी अनुकूल में परिवर्तित करना जीवन की महान् कला होती है। बहुधा व्यक्ति इस कला से अनजान होते हैं। वे प्रति-कूल को अनुकूल नहीं बना सकते, अपितु अनुकूल को प्रतिकूल अवश्य बना डालते हैं। इसका मूल सूत्र होता है, दूसरों को बुद्धू बनाकर अपने उपयोग में लेने का प्रयत्न करना। उस व्यक्ति की जब तक श्रद्धा, आत्मीयता तथा मित्रता होती है, वह कार्य देता रहता है, पर, जब उसे यह आभास हो जाता है, मुझे बुद्धू बनाया जाता है, वह किनारा कस लेता है और उसकी श्रद्धा संशय में, आत्मीयता दुराव में तथा मित्रता

सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में भी नये कीर्तिमान स्थापित कर इतिहास को नया मोड़ दिया है, पर, यह सब कुछ समय की परतों में दबता गया है। जैन विद्वान् इस ओर उदासीन रहे। इसी बीच कुछ विद्वानों ने अवसर का लाभ उठाया और जैन इतिहास की स्वर्णिम घटनाओं को भाण्डागारों की परतों में दबोच दिया।

वर्तमान युग जैन विद्वानों से नये सर्जन तथा अतीत के अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। पर, अपने अनेकान्त-दृष्टिकोण को सुरक्षित रखते हुए वे इस दिशा में अग्रसर हों। साम्प्रदायिक व्यामोह में पड़कर तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर अभिलषित मंजिल को पाने का प्रयत्न उन्हें नहीं करना है और न उपलब्ध ठोस प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए कतराने की भी अपेक्षा है। सत्य-प्राप्ति और उसकी अनुभूति का हमारा लक्ष्य है और उसी ओर चरण-न्यास पुनीत कर्तव्य है।

ऐतिहासिक सत्य को समीपता

इतिहास का विद्यार्थी रहा हूँ, अतः प्रत्येक घटना को उसी सूक्ष्म दृष्टि से देखने की वृत्ति हो गई है। जब तक सही निष्कर्ष उपलब्ध नहीं हो जाता, अनुसन्धान की परिक्रमा चालू ही रहती है। साम्प्रदायिक मान्यताओं को अहंमन्यता न देकर यथार्थता पाने को सजग रहा हूँ। प्रस्तुत उपक्रम में भी कुछ ऐसे तथ्यों की ओर विद्वानों को आकर्षित करना चाहूँगा, जो अनुसन्धान के परिवेश में अभी तक समाविष्ट नहीं हो पाये हैं। मैं केवल प्राप्त प्रमाणों को समुध्दृत करना ही चाहूँगा और विद्वानों से अपेक्षा रखूंगा कि वे पक्ष तथा विपक्ष में जो भी ठोस प्रमाण हों, प्रस्तुत करने का उपक्रम करें, जिससे हम ऐतिहासिक सत्य के समीप पहुँच सकें।

सन् ६८-६९ में मेरा चतुर्मास-प्रवास जयपुर में था। उन्हीं दिनों राजस्थान इतिहास कांग्रेस का तृतीय अधिवेशन वहां हो रहा था। मैंने भी उस समायोजन में "राजस्थान के जैन साहित्य का एक ऐतिहासिक अवलोकन" शीर्षक से शोध-पत्र पढ़ा। प्रसंगोपात्त उसमें एक

प्रसंगों के अभाव में धार्मिक अनुबन्ध के बारे में प्रामाणिकता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आवश्यक चूर्णि की कथा-वस्तु स्पष्ट है; अतः उसके आधार पर दृढ़ता से कहा जा सकता है, चाणक्य परम्परागत जैन होने के साथ-साथ तत्त्वज्ञान-सम्पन्न तथा परम सन्तोषी श्रावक थे।[१] उनके पिता भी परम श्रावक थे।[२] संक्षेप में उस कथा-वस्तु का सार इस प्रकार है : गोल देश में चणक ग्राम था। चणी ब्राह्मण वहां का प्रवासी था। वह श्रावक था। उसके घर जैन श्रमण ठहरे। उन्हीं दिनों चणी के घर एक पुत्र का जन्म हुआ। उस बालक में विचित्रता थी। जन्म से ही उसके दान्त समुद्गत थे। चणी ने बालक को श्रमणों के चरणों में प्रस्तुत करते हुए प्रश्न किया—"सदन्त बालक का भविष्य कैसा होगा?" श्रमण ने कहा—"यह बालक के राजा होने की सूचना है।" चणी का चिन्तन उभरा, राजा को राज्य के संरक्षण में अनेक प्रकार के पाप कार्य करने होते हैं। पापकारी कार्यों का परिणाम आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्गति है। मेरा पुत्र दुर्गतिगामी न हो, इस अभिप्राय से उसने दान्त घिस दिये। चणी ने श्रमण से पुनः प्रश्न किया, तो श्रमण ने कहा—"अब यह बिम्बान्तरित (प्रतिनिधि) राजा होगा।"

बालक का नाम चाणक्य रखा गया। शैशव की देहली को पार कर जब किशोरावस्था में प्रवेश किया, चौदह प्रकार की विद्याओं का अध्ययन किया। तत्त्व-ज्ञान में भी वे प्रवीण हुए। श्रावक बने तथा परम सन्तोषी जीवन जीने लगे।

इसी सन्दर्भ में चाणक्य की पत्नी के पीहर में अपमान, राजा नन्द की सभा में चाणक्य का गमन, दासी द्वारा अपमान, चाणक्य द्वारा नन्द साम्राज्य के उन्मूलन की प्रतिज्ञा, मौर्य सन्निवेश में चन्द्रगुप्त की माता

---

१. उमुक्क बाल भावेण चोद्दस विज्जाठाणाणि आगमियाणि, सोवि साव-ओ संतुट्ठो। पृ० ५६३

२. चाणक्के गोल्लविसए चणिअग्गामो, तत्थ चणिओ माहणो, सो य सावओ। पृ० ५६३

चाणक्य के बारे में वहाँ कहा गया है, "वह चौदह प्रकार की विद्याओं एवं तत्त्वज्ञान में निष्णात परम सन्तोषी श्रावक था" ।[1]

श्रावकत्व तथा निर्विण्णता

आचार्य हरिभद्र सूरि ने 'उपदेशपद' में चाणक्य के जीवन-प्रसंगों पर विस्तार से अनुचिन्तन किया है। उन्होंने वहाँ प्रत्येक घटना के हार्द को उद्घाटित किया है। वहाँ चाणक्य के पिता चणी का श्रावक[2] होना तथा उसके घर पर समस्त पुरुष-लक्षणों के विज्ञाता साधुओं का प्रवास होना उल्लिखित है। दन्त-घर्षण की कथा के अनन्तर चाणक्य के बारे में उन्होंने अपना अभिमत व्यक्त किया है : "कैशोर्य में प्रविष्ट होते ही वह अध्ययन में निष्णात हुआ। श्रावकत्व का स्वीकार किया और निर्विण्ण हुआ। वह परम सन्तुष्ट तथा आनन्दित था। निष्ठुर सावद्य कार्यों के परित्याग में वह उत्सुक रहता था" ।[3]

चाणक्य का श्रावकत्व, निर्विण्णता तथा सावद्य कार्यों से उपरति की सूचना जैन परम्परा की सबल पोषक है।

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक चूर्णि की कथा-वस्तु को समग्रता प्रदान की है। आवश्यक चूर्णि में चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तथा अव्या-वाध राज्य-संचालन में चाणक्य की कूटनैतिक सफल घटनाओं का ही आकलन है। चाणक्य के कैशोर्य की घटनाओं के अतिरिक्त जीवन के अन्य प्रसंगों में अधिकांशतः मौन ही साधा गया है। किन्तु, आचार्य

---

१. उमुक्क बालभावेण चोद्दसवि विज्जाठाणाणि आगमियाणि, सोय सावगो संतुट्ठो ।—पृ० ५२१

२. नामेण चणी तत्थासि माहणो सावगो सो य ।—पृ० १०६ अ०

३. पढियाणि सावगत्तं पडिवन्नो भावओ निव्विन्नो ।
अणुरूवा अइमहय माहणवंसुग्गया तेण ॥ ८
परिणीया एगा कन्नगा य संतुट्ठ माणसो धणियं ।
चिट्ठइ निट्ठुर सावज्जकज्ज परिवज्जणुज्जुत्तो ॥९-पृ० १०६ अ०

बताया, मेरे लिए परोसे हुए थाल से भोजन का अपहरण होता है। भूख के कारण कृशता तथा दुर्बलता बढ़ती जा रही है।

चाणक्य ने सूझ-बूझ से काम लिया। इसने मनोवैज्ञानिक प्रयोग के माध्यम से साधुओं का कृत्य जान लिया। आचार्य सम्भूत विजय को निवेदन करने के अभिप्राय से वह उपाश्रय में आया। उसने साधुओं को साधिकार उपालम्भ दिया। आचार्य सम्भूत विजय ने प्रतिवाद में चाणक्य को कहा—"तेरे जैसे संघ-पालक के होते हुए भी यदि क्षुधा से पीड़ित होकर ये साधु धर्म-च्युत होते हैं, तो यह तेरा ही अपराध है, अन्य किसी का नहीं।"[1]

प्रांजलिपुट होकर चरणों में गिरते हुए चाणक्य ने अपना अपराध स्वीकार किया और निवेदन किया—"मेरे अपराध को क्षमा करें। अब से 'प्रवचन-संघ' की सारी चिन्ताओं का निरसन मैं करूंगा।"[2]

आचार्य सम्भूत विजय का चाणक्य को 'संघ-पालक' के रूप में सम्बोधित करना तथा चाणक्य द्वारा प्रवचन (संघ) की सारी चिन्ताओं का भार अपने पर लेना, मात्र औपचारिकता का ही सूचक नहीं है, अपितु जैन-परम्परा के साथ प्रगाढ़ता की गहरी अभिव्यक्ति भी है।

'इंगिनी मरण' अनशन

कथा के विस्तार में आचार्य हरिभद्र ने चाणक्य की अन्तिम जीवन-झांकी की प्रस्तुति भी बहुत रोचकता से की है। उसमें रहे हुए तथ्य चाणक्य के जैनत्व की पुष्टि में विशेष हेतुभूत हो जाते हैं। चाटुकारों

---

१. जाता गुरुणा भणिओ तइ सासणपालगे संते। १२६
एए छुहापरद्धा निद्धम्मा होउमेरिसायारा।
जं जाया सो सव्वो तवावराहो न अन्नस्स। १२७
— पृ० ११३ अ०

२. लग्गो पाएसु इमो खामइ अवराहमेगमेयं मे।
एत्तो पभिई सव्वा चिंता मे पवयणस्सावि। १२८
— पृ० ११३ अ०

राजा बिन्दुसार से कोई उल्लेख नहीं किया ।[1]

निराश राजा बिन्दुसार राजमहलों में लौट आया। उसका मन खिन्न रहने लगा। अमात्य सुबन्धु ने सोचा, राजा का आकर्षण चाणक्य के प्रति बढ़ रहा है। कहीं ऐसा न हो जाये कि मेरी कलई खुल जाये। उसने भी अवसर का लाभ उठाते हुए राजा से विज्ञप्ति की, यदि आपका आदेश हो, तो महामात्य चाणक्य को प्रसन्न कर मैं राजधानी ले आऊं। राजा बिन्दुसार ने उसे आदेश प्रदान कर दिया। उसका अन्य षड्यंत्र भी सफलता की ओर बढ़ गया। सुबन्धु ने धूप से चाणक्य का सम्मान किया और उसके चारों ओर फैले हुए उपलों में उसे (धूप को) डाल दिया। उपलों ने आग पकड़ ली। वे धधकने लगे और चाणक्य के शरीर को परितप्त करने लगे।

अन्तिम आत्मालोचन

आचार्य हरिभद्र सूरि ने उस समय के चाणक्य के विशुद्ध परिणामों का बहुत ही हृदयग्राही विवेचन किया है। उस विवेचन में जैनत्व के गहरे संस्कारों की स्पष्ट झलक है। उन्होंने लिखा है : "उस समय चाणक्य की शुद्ध लेश्या थी। धार्मिक अनुचिन्तन में वह अनुरक्त था। वह सर्वथा अचल था। अग्नि में सुलगते हुए भी उसका मन अनुकम्पा से ओतप्रोत था। उस समय वह अध्यात्म में पूर्णतः लीन हो रहा था। उसके विचार उभर रहे थे, वे प्राणी धन्य हैं, जिन्होंने अनुत्तर मोक्ष स्थान को प्राप्त किया है। वे किसी प्राणी के लिए दुःखद नहीं होते। मेरे जैसे प्राणी बहुत प्रकार के आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहते हुए अपना जीवन पाप में ही व्यतीत करते हैं। जिनेश्वर वाणी को जानते हुए भी मोहरूप महाशल्य से मैं बींधा हुआ

---

१. न य नाऊण वि सिट्ठं सुबंधुदुव्विलसियं तया रन्नो ।
चाणक्केण पेसुन्नकडुविवागं मुणंतेण ॥ १६०

—पृ० ११४ अ०

विभिन्न रामायणों का समीक्षात्मक अध्ययन

●

राम-कथा जैन, बौद्ध और वैदिक; इन सभी परम्पराओं में रूपा-
तर से मान्य रही है। सभी परम्पराओं के विद्वानों ने इस कथा-वस्तु
ो पुराणों, काव्यों व नाटकों के रूप में बान्धा है। रचयिताओं ने
ग-युग की भाषा में राम और सीता की यशो-गाथा गाई है। प्राक्तन
ाल से लेकर वर्तमान युग तक के राम-साहित्य में जैन विद्वानों की
ी उल्लेखनीय देन रही है।

कृत भाषा में

विक्रम संवत् ६० के लगभग नागिल वंशीय स्थविर आचार्य राहु-
भ के शिष्य विमल सूरि ने प्राकृत भाषा में पउम चरिउ (सं० पद्म
रित अर्थात् रामचरित) की रचना की। ६००० आर्या परिमित यह
। जैन रामायणों में सबसे प्राचीन है और भाव-भाषा की दृष्टि से
। बहुत श्लाघ्य है। इसका सम्पादन जर्मन विद्वान् डा० याकोबी ने
त्साह पूर्वक किया है। इस ग्रंथ पर नाना शोध-कार्य भी हो चुके
। श्री नाथूराम प्रेमी की धारणा से यह ग्रंथ श्वेताम्बर और दिगम्बर
म्पराओं की उत्पत्ति से पूर्व का है; क्योंकि इसमें कुछ स्थल दिगम्बर
रम्पराओं के और कुछ स्थल श्वेताम्बर धारणाओं के अनुकूल और
तिकूल पड़ते हैं। यह ग्रंथ वि०सं० ६० में लिखा गया है, जबकि उक्त
म्पराओं का सम्भावित उत्पत्ति-काल वि० सं० १३६ है।

किसी [illegible] विद्वान् ने ३४०० श्लोक परिमाण 'सीताचरित' भी
[illegible] में किया था। ग्रंथ-कर्ता और रचना-काल का अब तक पता
। [illegible], पर, ग्रंथ प्राचीन ही माना गया है। इस प्रकार 'पउमचरिउ'

संस्कृत में

संस्कृत भाषा में भी जैन कविवरों की लेखिनी अगाध रूप में चली। कविवर रविषेण ने प्राकृत के पउमचरिय का पल्लवित अवतरण संस्कृत भाषा में कर दिया। पउमचरिय दश सहस्र श्लोक परिमाण है। रविषेण का पद्म चरित्र अठारह सहस्र श्लोक परिमाण है। पउम चरिय की रचना आर्या छंदों में है और पद्मचरित्र की रचना अनुष्टुभ् छन्दों में। इस ग्रंथ का प्रचलित नाम पद्मपुराण है और जैन रामायणों में यह सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी रचना वि० सं० ७३३ के लगभग हुई है।

आचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र बत्तीस हजार श्लोक परिमाण है। इस ग्रंथ के सातवें पर्व में लगभग पैंतीस सौ श्लोकों में राम-कथा का वर्णन किया गया है। सचमुच ही आचार्य हेमचन्द्र का यह ग्रंथ एक सुविस्तृत पुराण भी है और महाकाव्य भी।

दिगम्बर आचार्य जिनसेन ने भी विमलाचार्य के पउमचरिय के आधार पर संस्कृत भाषा में पद्मपुराण की रचना की है। और भी अनेकानेक काव्य व चरित्र राम–कथा के विषय में जैन मनीषियों ने रचे हैं।

कन्नड़ भाषा में

कन्नड़ दक्षिण की एक प्रमुख भाषा है। किसी युग में कर्नाटक में जैन धर्म का बहुत विस्तार था। कन्नड़ भाषा के साहित्य का उद्गम ही विशेषतः जैन मनीषियों की लेखिनी से होता है। इस भाषा में भी नाना जैन विद्वानों ने राम–चरित्र रचे हैं। पम्प, पौन्न और रत्न अपने युग के सर्व श्रेष्ठ कवियों में थे। तीनों ही जैन थे। पम्प तथा रत्न महाभारत की कथा पर महाकाव्य रचे और पौन्न ने राम–कथा पर सु क्य रामाभ्युदय नामक काव्य रचा। हालांकि वर्तमान में यह अनुपलब्ध है, पर, अन्य अनेक ग्रंथों में इसकी गौरव-गाथा ि

देते हैं। लवण और अंकुश (लव कुश) मातृ-प्रतिशोध के लिए अनेक राजाओं की सेनाओं के साथ अयोध्या पर चढ़ाई करते हैं। युद्ध के अन्त में सीता का परिचय खुलता है। राम उसे पुनः अयोध्या लाते हैं और उसकी अग्नि-परीक्षा करवाते हैं।

यह कथा-भेद जैन और वैदिक रामायणों का परम्परागत भेद है। दोनों परम्पराओं की राम-कथा में आदि से अन्त तक एक रूपता भी है तो आदि से अन्त तक अनेकरूपता भी। सभी पात्रों के धार्मिक आधार तो बदल ही जाते हैं, साथ-साथ उसके अवान्तर घटना-प्रसंग भी। दोनों परम्पराओं की राम-कथा का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य ही रोचक और ज्ञानवर्धक विषय बनता है। दोनों में उल्लेखनीय भेद यह है कि वैदिक परम्परा में क्रमशः राम को ब्रह्म का स्वरूप दे दिया जाता है और जैन परम्परा अवतारवाद की हिमायती नहीं है; अतः उसमें प्राकृत रामायणों से लेकर वर्तमान की रामायणों तक भी राम एक पुरुष, महापुरुष व वासुदेव लक्ष्मण के ज्येष्ठ बन्धु बलदेव ही माने जाते हैं। वे महान् राजा थे, इसलिए अर्चनीय नहीं, अपितु जीवन के अन्त में उन्होंने मुनित्व धर्म स्वीकार किया और सर्वज्ञ होकर मोक्षधाम पहुँचे, इसीलिए वे जैन जगत् के अर्चनीय एवं उपासनीय हैं। वैदिक परम्परा में राम-कथा का आदि ग्रन्थ वाल्मीकि रामायण है। उसके बाद ही यह कथा महाभारत व अन्य पुराण ग्रन्थों में आई, ऐसा माना जाता है। वाल्मीकि ने राम को एक महामानव के रूप में ही प्रस्तुत किया है। आदि से अन्त तक राम एक मानव रहते हैं। उनमें ईश्वरता का आरोप कवि ने कहीं नहीं होने दिया है। आध्यात्म रामायण में राम के ब्रह्मरूप की झांकी मिलती है और भक्त कवि तुलसी के रामचरित मानस में तो 'सिया राम मय सब जग जानि' का आदि से अन्त तक निर्वाह मिलता है। आज के बुद्धि-प्रधान युग में जैन रामायणें बुद्धिगम्यता की दिशा में अधिक प्रशस्त मानी गई हैं। वहां अधिकांश घटनाएं स्वाभाविक और सम्भव रूप में मिलती हैं। उदाहरणार्थ—वैदिक रामायण में रावण के दशमुख माने गये इसीलिए दशकन्धर, दशानन, दशमुख आदि नाम उसके

हैं, ऐसा कहा जाता है। जैन रामायण में रावण के दशानन कहलाने का वर्णन इस प्रकार है—बचपन में रावण एक बार खेलते-खेलते भण्डार में पहुँच गया। वहां उसे तोयदवाहन का हार मिल गया। उसमें नौ मणियां जड़ी हुई थीं, जिनमें से प्रत्येक मणि में पहनने वाले का मुख प्रतिबिम्बित होता था। रावण ने बाल-लीला में उसे उठाकर पहन लिया और तभी से लोग उसे दशानन कहने लगे।[1]

कुछ जैन रामायणों के प्रारम्भ में ही अस्वाभाविक बातों की आलोचना की गई है। स्वयंभू कृत पउमचरिउ में श्रेणिक भगवान् महावीर से राम-कथा कहने का अनुरोध करते हैं और जिज्ञासा के रूप में वैदिक परम्परा में चलने वाली असंगतियों को भी प्रस्तुत करते हैं। उनमें जिज्ञासा मूलक प्रश्न है—रावण के दशमुख और बीस हाथ कैसे हैं? कुम्भकर्ण छः महीने तक कैसे सोता था और करोड़ों महिष कैसे खा जाता था? कूर्म ने पृथ्वी को अपनी पीठ पर धारण किया तो वह स्वयं कहां था? रावण की पत्नी मन्दोदरी को विभीषण ने अपनी पत्नी कैसे बना लिया, आदि।[2] इस प्रकार राम की अवतारवादिता और विविध अस्वाभाविकताओं को लेकर जैन और वैदिक परम्परा की राम-कथा में बहुत सारे मौलिक अन्तर आ जाते हैं।

---

१. परिहिउ णव-मुहइं समुट्ठियइं। णं गहबिम्बइं सु-परिट्ठिइं।
पेक्खेप्पिणु ताइं दहाणणइं। थिर-तारइं तरलइं लोयणइं।
तें दहमुहु दहसिरु जाणेण। किउ पंचाणणु जेम पसिद्धि गउ॥
९।६

२. पणवेप्पिणु जिणु तग्गय-मणेण। पुणु पुच्छिउ गोत्तमसामि तेण।
परमेसर पर सासणेहिं सुव्वय विवरेरी।
कहे जिण-सासणे केम थिय कह राहव-केरी॥
जगे लोएहिं ढक्करिवन्तएहिं। अप्पाइउ भन्तिउ भन्तएहिं।
जइ कुम्मे धरियउ धरणि-वीढु। तो कुम्मु पडन्तउ केण णीढु॥
जइ रामहो तिहुअणु उवरे माइ। तो रावणु कहिं तिय लेवि जाइ

उसके आग्रह पर ऋषि उसी अनुष्ठान में लगे। वे प्रतिदिन दूध को अभिमंत्रित कर घड़े में डालते थे। एक दिन रावण इसी वन प्रदेश में आ गया। उसने ऋषि पर विजय प्राप्त करना चाहा; अतः ऋषि के शरीर में बाण की नोक चुभा-चुभा कर बूंद-बूंद करके रक्त निकाला और उस दूध के घड़े को पूरा भर लिया। वह घड़ा उसने मन्दोदरी को लाकर दिया और कहा—ध्यान रखना विषकुम्भ है। मन्दोदरी उन दिनों रावण से अप्रसन्न थी। उसने सोचा, मेरा पति अन्य स्त्रियों के साथ रमण करता है, ऐसी स्थिति में मेरा मर जाना ही अच्छा है। उसने वह रक्त-मिश्रित दूध पी लिया। उससे वह मरी तो नहीं, प्रत्युत गर्भवती हो गई। पति की अनुपस्थिति में सगर्भा हो जाने से, वह उसे प्रकट नहीं कर पाई। प्रसव-काल में वह विमान द्वारा कुरुक्षेत्र में चली गई और वहाँ सीता को जन्म दिया। जन्मते ही उसने जमीन में गाड़ दिया और पुनः लंका लौट आई। हल जोतने की क्रिया में सीता जनक के हाथ लगी। उन्होंने उसे पुत्री मानकर पाला-पोषा।

बौद्ध रामायण में

बौद्धों के जातक ग्रंथ भी पुराने माने जाते हैं। उनमें बुद्ध के प्राग्-जीवन की कथाएं लिखी गई हैं। दशरथ जातक में राम-कथा का सविस्तार वर्णन मिलता है। उस जातक कथा के अनुसार भगवान् बुद्ध ही अपने किसी एक जन्म में राम थे। उनका जीवन वृत्त वहां निराले प्रकार का ही बताया गया है। दशरथ काशी नगरी के राजा था। उनके सोलह हजार रानियां थीं। मुख्य रानी से राम, लक्ष्मण दो पुत्र और सीता नामक कन्या उत्पन्न हुई। कालान्तर से पटरानी की मृत्यु हो गई। अन्य रानी पटरानी बनी। उससे भरत नामक पुत्र हुआ। वह उसे राज्य दिलाना चाहती थी। राजा ने यह सोचकर कि वह इन तीनों को कहीं मरवा न डाले, उन्हें बारह वर्षों के लिए वनवास भेज दिया। दोनों भाई अपनी बहिन सीता को लेकर हिमालय चले गये। वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगे। नौ वर्ष बाद राजा दशरथ की मृत्यु

और सर्वविदित जैसी है। उत्तरपुराण की राम-कथा अद्भुत रामायण की याद दिला देने वाली है। उसमें बताया गया है—राजा दशरथ वाराणसी के राजा थे। राम की माता का नाम सुबाला और लक्ष्मण की माता का नाम कैकेयी था। भरत और शत्रुघ्न की माता का नामोल्लेख ही नहीं है। किसी अन्य रानी से उत्पन्न हुए, ऐसा लिखा है। सीता मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। नैमित्तिकों ने उसके सम्बन्ध में रावण के सामने भविष्य-वाणी की कि आगे चलकर यह कुल-नाशकारिणी होगी। रावण ने अपनी पुत्री सीता को मंजूषा में रखवाकर मिथिला के आस-पास जमीन में गड़वा दिया। संयोगवश हल की नोक में उलझ जाने से वह राजा जनक को मिल गई। जनक ने उसे पुत्रीवत् पाला-पोषा। सीता जब विवाह योग्य हुई तो जनक ने एक यज्ञ किया। राम-लक्ष्मण को वहाँ आग्रहपूर्वक बुलवाया और राम के साथ सीता का विवाह भी कर दिया। यज्ञ के समय रावण को आमन्त्रण नहीं भेजा गया, इससे वह अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। आगे चलकर नारद के द्वारा उसने सीता के रूप की चर्चा भी सुनी और वह उसे उठा ले गया।

इस रामायण में राम-वनवास का कोई वर्णन नहीं है। वाराणसी के निकट ही चित्रकूट नामक वन से रावण सीता को ले गया था। सीता को पुनः वनवास देने की और अग्नि-परीक्षा की घटना का भी इस रामायण में उल्लेख नहीं है। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीड़ित होकर शरीर छोड़ देते हैं। राम इस घटना से दुःखित होकर अनेक राजाओं और अपनी सीता आदि रानियों के साथ जैनी दीक्षा ले लेते हैं।

गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण की यह राम-कथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं है। दिगम्बर परम्परा में राम-कथा की एक धारा यह रही है। महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने उत्तरपुराण में यही राम-कथा लिखी है। कन्नड़ की जैन रामायण चामुंड राय-पुराण में भी राम-कथा की इसी परम्परा को अपनाया गया है। दिगम्बर

और सर्वविदित जैसी है। उत्तरपुराण की राम-कथा अद्भुत रामायण की याद दिला देने वाली है। उसमें बताया गया है--राजा दशरथ वाराणसी के राजा थे। राम की माता का नाम सुबाला और लक्ष्मण की माता का नाम कैकेयी था। भरत और शत्रुघ्न की माता का नामोल्लेख ही नहीं है। किसी अन्य रानी से उत्पन्न हुए, ऐसा लिखा है। सीता मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। नैमित्तिकों ने उसके सम्बन्ध में रावण के सामने भविष्य-वाणी की कि आगे चलकर यह कुल-नाशकारिणी होगी। रावण ने अपनी पुत्री सीता को मंजूषा में रखवाकर मिथिला के आस-पास जमीन में गड़वा दिया। संयोगवश हल की नोक में उलझ जाने से वह राजा जनक को मिल गई। जनक ने उसे पुत्रीवत् पाला-पोषा। सीता जब विवाह योग्य हुई तो जनक ने एक यज्ञ किया। राम-लक्ष्मण को वहाँ आग्रहपूर्वक बुलवाया और राम के साथ सीता का विवाह भी कर दिया। यज्ञ के समय रावण को आमन्त्रण नहीं भेजा गया, इससे वह अत्यन्त क्षुब्ध हो गया। आगे चलकर नारद के द्वारा उसने सीता के रूप की चर्चा भी सुनी और वह उसे उठा ले गया।

इस रामायण में राम-वनवास का कोई वर्णन नहीं है। वाराणसी के निकट ही चित्रकूट नामक वन से रावण सीता को ले गया था। सीता को पुनः वनवास देने की और अग्नि-परीक्षा की घटना का भी इस रामायण में उल्लेख नहीं है। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से पीड़ित होकर शरीर छोड़ देते हैं। राम इस घटना से दुःखित होकर अनेक राजाओं और अपनी सीता आदि रानियों के साथ जैनी दीक्षा ले लेते हैं।

गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण की यह राम-कथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं है। दिगम्बर परम्परा में राम-कथा की एक धारा यह रही है। महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने उत्तरपुराण में यही राम-कथा लिखी है। कन्नड़ की जैन रामायण चामुंड राय-पुराण में भी राम-कथा की इसी परम्परा को अपनाया गया है। दिगम्बर समाज में भी यह परम्परा विरल रूप से रही है। मुख्य परम्परा तो श्वेता-

म्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पउमचरिय और पद्मचरित की राम-कथा चल रही है।

इस प्रकार जैन, बौद्ध और वैदिक, इन तीनों ही परम्पराओं में राम-कथा की बहुत प्राचीन और रोचक कहानी है।
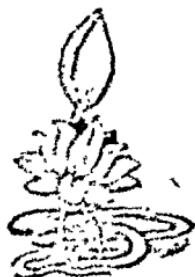
साहित्य-प्रणयन का उद्देश्य

सामयिक व शाश्वत साहित्य

चिन्तक की वह अनुभूति काव्य या साहित्य कहलाती है, जो शब्द और अर्थ में पूर्णतः तादात्म्य स्थापित करती हुई आनन्द और परिशोधन के अजस्र स्रोत में जन-मानस को युग-युग तक प्लावित व प्रबुद्ध करती है। वह साहित्य पुराण है, जो शब्दों में अभिगुम्फित होकर भी कथयिता के वाच्य का अभिव्यक्ति के द्वारा पूर्णतः प्रतिनिधित्व नहीं करता। साहित्य-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने साहित्य-रचना का उद्देश्य व उसकी परिभाषा को शब्दों का कितना सुन्दर परिधान दिया है: "साहित्य का उद्देश्य जीवन को जागृत और गतिशील बनाना है, जिससे कि जीवन के हित की साधना हो सके। साहित्य शब्द में ही इस स-हितता की बात स्वयं अन्तर्गर्भित है। साहित्य शब्द लघु है, किन्तु इसका प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। साहित्य की परिभाषा की जाये तो कहना होगा कि 'अन्तरंग जीवन की अभिव्यंजना' साहित्य है। दूसरे शब्दों में ज्ञान-राशि के संचित कोश को साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। संक्षेप में अर्थ के उपयुक्त और सुन्दर मेल को ही साहित्य कहा जाता है।"[१]

मुनिश्री साहित्य को सामयिक व शाश्वत; इन दो भागों में विभक्त करते हुए लिखते हैं: 'सामयिक साहित्य वह होता है, जिसमें वर्तमान की सामाजिक, राजनैतिक तथा अन्य प्रकार की समस्याओं पर चिन्तन

---

१. श्रमण-संस्कृति के अंचल में, पृ० ६२

किया जाता है या वर्तमान की प्रगति का विवेचन किया जाता है। समाज में क्या कुण्ठाएं हैं तथा उन्हें किस तरह तोड़ा जा सकता है, आदि जो एकदम आवश्यक और सामयिक प्रश्न होते हैं, उनका समाधान चिन्तन, मनन आदि सामयिक साहित्य में प्रस्तुत होता है। यद्यपि समस्याएं सुलझाने के आधार पर शाश्वत सत्य का निरूपण भी यहां होता है, किन्तु, उसकी इतनी गौणता और अल्पता होती है कि भेद को मिटाया नहीं जा सकता।

'शाश्वत साहित्य वह होता है, जिसमें मानव-जीवन के मूल गुणों को छुआ जाता है। उन्हें संवर्धन कैसे मिले? उनकी कितनी व्यापकता है? समाज किस आधार पर टिक सकता है? राष्ट्र का विकास कौन सी धाराओं के बल पर किया जा सकता है? संघर्ष, अवरोध और निराशा जीवन को किस प्रकार जटिल और भार बना देती है तथा मेल, प्रगति और आशा उसे कैसे विकसित तथा जीवन्त बनाती है? जीवन का सही ध्येय क्या है? आदि जिज्ञासाएं शान्त की जाती हैं तथा क्षेत्रातीत और समयातीत सत्य का आविष्करण वहां किया जाता है। वह अमर और प्रबल प्रेरणादायी होता है। उसमें त्रैकालिक तथ्य प्रस्तुत होते हैं। उसमें मानव-सम्बन्धों को प्रमुख रूप से विश्लिष्ट किया जाता है।'[1]

आनन्द की सृष्टि

आनन्द का उद्रेक काव्य का अभिन्न अंग होता है और उसी को 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' के सामवायिक शब्दों में प्रस्फुटन मिला है। रसात्मक वाक्यों का समुदाय जहां काव्य होता है, वहां वह जीवन के घुमावदार पहलुओं में संवेदना की अभिव्यक्ति देकर अभिनव चमक उत्पन्न कर देता है। इसी अनुभूति का यदि विस्तार के राज-मार्ग पर प्रस्फोटन किया जाये, तो यह निष्कर्ष सहज ही उपलब्ध होगा कि

---

१. श्रमण संस्कृति के अंचल में, पृ० ९३

जीवन में आनन्द की अनुभूति ही साहित्य और संस्कृति को गति प्रदान करती है।

आनन्द की अद्भुत सृष्टि के लिए ही अवकाश के क्षणों में मनुष्य ने रंग मंच का सर्जन किया; कला को उद्दीपन दिया, साहित्य और पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन प्रारम्भ किया, रसात्मक वाक्यों की संकलनता में अपना चरण-निक्षेप किया; किन्तु, क्या इन विभिन्न दर्पणों में भी उसे अपना प्रतिबिम्ब स्पष्टतः दीख पाया ? तो क्या विगत की तरह अनागत भी धुंधला व निराशाजनक है ? किन्तु, यहां मानव-स्वभाव का विश्लेषण विशेष उपयोगी होगा। गति में वेग व स्थायित्व भरने के लिए टिके हुए चरण की स्थिरता का अनुभव करने के अनन्तर ही विज्ञ पुरुष अपना दूसरा चरण उठाता है। असंदिग्धता में की गई त्वरता कृत को भी धूलिसात् कर देती है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध नाटक-समीक्षक श्री वाल्टर कर ने जीवन के विशाल नाटक को बहुत वर्षों तक अभिनीत होते देखकर यह मत व्यक्त किया था; 'हम कला, प्रकृति, मैत्री तथा दूसरे स्वाभाविक आनन्दों के समक्ष आत्म-समर्पण कर दें और अपनी बौद्धिक प्रतिभा का प्रयोग विश्व को और स्वयं को समझने-बूझने और उसका आनन्द लेने में करें।'[१]

श्री टामस एक्विनास ने उपरोक्त अभिमत की पुष्टि करते हुए कहा था : 'कोई भी मनुष्य आनन्दानुभूति के बिना जीवित नहीं रह सकता।'[२]

भारतीय मनीषियों ने इस अन्तःस्थ आनन्द को 'स्वान्तःसुखाय' की संज्ञा से अभिहित किया। किन्तु, कुछ ने इसके सहवर्तित्व में 'यश से' व 'अर्थ कृते' को भी साहित्य का उद्देश्य माना। उनका तर्क था :

---

१. नवभारत टाइम्स, ४ अगस्त ६२
२. नवभारत टाइम्स, ४ अगस्त ६२

भौतिक शब्दों को [illegible] [illegible] का [illegible] रहता है। जब प्राचीन साहित्यकारों ने '[illegible]' [illegible] पुकारा [illegible] का प्रत्यक्ष [illegible] आनन्द को [illegible] से [illegible] करता है। मुन्शी प्रेमचन्द [illegible] साहित्यिक [illegible] को [illegible] करते हैं। वे एक स्थान पर लिखते हैं : 'हम साहित्यकार से यह भी आशा रखते हैं कि वह अपनी बहुज्ञता और अपने विचारों की विस्तृति से हमें जाग्रत करे, हमारी दृष्टि तथा मानसिक परिधि को विस्तृत करे—उसकी दृष्टि इतनी सूक्ष्म, इतनी गहरी और इतनी विस्तृत हो कि उसकी रचना से हमें आध्यात्मिक आनन्द और बल मिले।'[1]

इसी भावना को और स्पष्ट करते हुए मुन्शी प्रेमचन्द लिखते हैं : 'प्रेम ही आध्यात्मिक भोजन है और सारी कमजोरियां इसी भोजन के न मिलने अथवा दूषित भोजन के मिलने से पैदा होती हैं। कलाकार हम में सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करता है और प्रेम की उष्णता।'

उनका यह आध्यात्मिक आनन्द इतना बलवत्तर हो उठता है कि वे अपने साहित्य में विश्वात्मा से एकात्मा को भिन्न स्वीकारी नहीं करते; अतः वे लिखते हैं : 'विश्व की आत्मा के अन्तर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है—साहित्य।'[2]

साहित्य का उत्थान : राष्ट्र का उत्थान

स्थायी साहित्य की चर्चा करते हुए मुन्शी जी लिखते हैं : 'स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएं नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएं दिखाता है।

---

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार
२. प्रेमचन्द : कुछ विचार

मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हममें जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहता है, उसे बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है। क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है, जो अदालतों में बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे का फैसला करने से कहीं ऊंचा है। उसके लिए डिग्रियां और ऊंची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौन्दर्य-तत्त्व का ज्ञान-इसकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुँचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनों तपस्वी ही थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य-रचना के लिए कोई तैयारी नहीं की। दो-चार नुस्खे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है।"[1]

कुछ एक मनचले साहित्यकार स्वान्तःसुखाय या दूसरे शब्दों में आनन्द को ओछे स्तर के मनोरंजन तक ही सीमित कर देते हैं। महफिल सजाना या सार-विहीन कहकहे में गजलें या कविता पढ़ना आत्म-विहीन सुन्दर शरीर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' कह कर स्वान्त : सुखाय को जो गौरव प्रदान किया है, वह उक्त प्रकार के घासलेटी साहित्य से श्री-विहीन हो जाता है। मुन्शी प्रेमचन्द्र जी ने इस प्रकार के आनन्द बनाम मनोरंजन की भर्त्सना करते हुए लिखा है; 'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है—उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देश-भक्ति और सचाई

---

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार

के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।"[1]

अमृत साहित्य

'काव्यों में रसधारा का उद्भव क्यों हुआ ? रस-हीन वाक्य-विन्यास काव्य की परिधि से अस्पृष्ट क्यों रहा ? वह क्या काव्य जिसके मर्दन से रस-परम्परा का उद्रेक नहीं होता हो।[2] वे रससिद्ध सुकृती कवि पुंगव ही विजयी क्यों बनें [3] ? ये ऐसे प्रश्न हैं, जो साहित्य के मर्म का सहज ही उद्घाटन करते हैं। यशः-प्रार्थी कवि रससिद्धता को अपना कवच बनाकर नहीं चल सकता। हिरण्यार्थी लक्ष्मी के पद-चाप से ही आहत हो जाता है; अतः अभिव्यक्ति के पर उसके लिए अनुद्गत ही रह जाते हैं। आनन्द, आत्मास्वाद या स्वरति का अनुशीलक अपने मानस-मंथन से उद्भूत अमृत-साहित्य में यश और अर्थ का कुरस टपका कर कभी उसे विरस नहीं बनने देता। सुप्रसिद्ध समालोचक डा० नगेन्द्र इसीलिए तो कहते हैं : 'मैं काव्य में रस-सिद्धान्त को अन्तिम सिद्धान्त मानता हूं। उसके बाहर न काव्य की गति है और न ही सार्थकता।

"......नित्य धर्म साहित्यकार का एक ही है। वह है, शब्द-अर्थ के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार का सुख या आत्मास्वाद का भोग—आधुनिक शब्दावली में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की आनन्दमयी अभिव्यक्ति।"

---

१. देखें, वही

२. किं तेन किल काव्येन मृद्यमानस्य यस्य ताः।
उदधेरिव नायान्ति रसामृतपरम्पराः॥

३. जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥
—सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

वैदिक ग्रन्थों में धर्म के चार लक्षण बतलाये गये हैं : आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद। सदाचार, स्मृति और वेद नैतिक, सामाजिक तथा दार्शनिक मूल्यों की अक्षुण्णता की ओर इंगित करते हैं। किन्तु, उनकी सार्थकता तो आत्मा की प्रीति और प्रतीति के भरण-पोषण में ही है; अतः जब तक कोई भी रचना आत्म-प्रीति के निमित्त नहीं बनती, तब तक उसमें सरसता के बिन्दु कैसे टपक सकते हैं और कैसे वह दिव्योपदेश होकर शिवेतरक्षति के लिए हो सकती है?

अतीत के साथ वर्तमान का मिलन

साहित्य एक ऐसी विलक्षण शक्ति से सम्पन्न दर्पण है, जिसमें भूत कभी धुंधला नहीं होता, वर्तमान प्रतिबिम्बित रहता ही है तथा भविष्य की बहुत सारी रेखाएं भी उसमें उभरती हुई दृष्टिगत होने लगती हैं। त्रिकालवर्ती घटनाओं को अपने में संजोने की क्षमता रख पाना सार्वदेशिकता की किसी भी इकाई का खण्डन नहीं होने देती; अतः वह साहित्य जो धर्म की अभिख्या से भी अंकित किया जाता है, भूत और भावी पर दृष्टि डालता हुआ वर्तमान को ओझल कैसे कर सकता है तथा ऐहिक विभूतियों से हीनता का आरोप उस पर कैसे लगाया जा सकता है? वह तो सहभाव तथा हितसहित (कल्याणमय) होकर प्रवृत्त होता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में उसे इस प्रकार कहा जा सकता है : 'सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा–भाषा का, ग्रन्थ–ग्रन्थ का मिलन नहीं है, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है।'

युगों का एक दूसरे के साथ सम्मिलन साहित्य के अतिरिक्त कहीं भी सम्भव नहीं है। युग-परिवर्तन के कारण पिता-पुत्र में विचार-भेद होता ही है; किन्तु, साहित्य की जाह्नवी में निमज्जन करते हुए पिता-पुत्र भी समरस की अनुभूति करते हैं। युगों की वय-असमानता उस तृप्ति में व्याघात उपस्थित नहीं कर सकती। क्योंकि वह तृप्ति आनन्द के

उन्हें हल[1] जोतने का परामर्श दिया गया है, तो कहीं राम[2] के यशः-प्रसार का उपादान भी उन्हें ही माना गया है। नरेश और वागीश को अन्योन्य सम्बन्धी[3] बताया गया है, तो उन्हें शूरवीर के साथ जनसेवी[4] भी माना गया है। भूधव अपनी कीर्ति-कमला को विस्तृत करने की उनसे अपेक्षा रखते थे, आहव के समय योद्धाओं में शक्ति-संचार की अनिवार्यता समझते थे, तो श्रीमन्त अपने जन्म-दिवस, पुत्र-जन्म, विवाह आदि प्रसंगों पर उनका खुलकर उपयोग करते थे। उनकी उस अजीबो-गरीब स्थिति पर आंसू बहाते हुए ही तो यह कहा गया था 'इस दग्धोदर के लिए मनुष्य क्या कुछ नहीं करता! वानरी की तरह अपनी वाग्देवी को वह घर-घर नचाता घूमता है।'[5]

कवि और कविता क्या है?

कविता का रहस्य क्या है और कवि का हृदय क्या है; सामान्यतया यह समझने में असावधानी हो जाती है। कुछ उसकी प्राप्ति में व्याकरण-ज्ञान को मुख्य मानते हैं, तो कुछ तर्क, छन्दोज्ञान व मीमांसा

---

१. कविराजां खेती करो हल राखूं रागा हेत।
   गीत अमी में गाड्यां ऊपर रालो रेत॥
२. [illegible] सङ्कुचितं यशो यद्यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
   स नर्म पत्रादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः॥
३. ख्याता नराधिपतयः कविसंश्रयेण,
   राजाश्रयेण च गताः कवयः प्रसिद्धम्।
   राज्ञा समोऽस्ति न कवेः परमोपकारी,
   राज्ञो न चास्ति कविना सदृशः सहायः॥
४. [illegible] ।
   [illegible] ॥
५. [illegible] ।
   [illegible] ॥

आदि की अनिवार्यता का अनुभव करते हैं; किन्तु, कविता कामिनी की यह काम्य नहीं है। यह किसी को पिता या भ्राता मानकर उनका वरण नहीं करती, तो कुछ एक को नपुंसक या चाण्डाल समझती हुई उनके दूर से ही चली जाती है। जो उसके अन्तस्तल का भेद कर सकता है, उसका ही वह तो वरण करती है।[1] 'कृपण की तरह केवल अर्थ की उपासना करने वाले, वेश्या की तरह केवल अलंकृत रहने वाले व आयुर्वेदाचार्य की तरह केवल रसों की ओर ही दृष्टिपात करने वाले के स्पर्श को वह निन्द्य मानती है और अर्थ, अलकार व रस से उपेत को ही अपना प्रेय मानती है और उसे कोई सौभाग्यशाली ही प्राप्त कर सकता है।'[2] एक ओर जहां उसे महाकवि का गौरवशाली पद प्राप्त है, वहां दूसरी ओर उसे चारण-भाट की संज्ञा भी दी जाती है।

सब कुछ होते हुए भी कवि ने मानव-मन को आलोकित करने व उसका मार्ग-दर्शन करने के लिए सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का द्वार उद्घाटित किया है तथा अपने अनूठे इतिवृत्त का सर्जन किया है।

शब्दों की संघटना, मात्रा की पूर्णता, यतिभंग आदि दोषों की वर्जना ही कविता नहीं है। यह तो उसका बाह्य सौन्दर्य है। उसमें भावना की तीव्रता और उसके आधार पर पाठक तथा श्रोता के हृदय-

---

१. नैव व्याकरणज्ञमेति पितरं न भ्रातरं तार्किकं।
दूरात् संकुचितेव गच्छति पुनः चाण्डालवत् छान्दसम्।
मीमांसा-निपुणं नपुंसकमिति ज्ञात्वा निरस्तादरा।
काव्यालंकरणज्ञमेत्य कविता कान्ता वृणोति स्वयम्॥

२. अर्थान् केचिदुपासते कृपणवत् केचित्त्वलंकुर्वते।
वेश्यावत्, खलु धातुवादिन इवोद्बध्नन्ति केचिद्रसान्॥
अर्थालंकृतिसद्रसद्रवमुचां वाचां प्रशस्तिस्पृशां।
कर्तारः कवयो भवन्ति कतिचित् पुण्यैरगण्यैरिह॥

प्रयत्न होता, तो भ्रष्टाचार को मिटाने में आज [illegible] नहीं [illegible] और वह क्रमशः बढ़ता हुआ भी नजर नहीं आता।

ऐसा लगता है, भ्रष्टाचार के विरुद्ध बोलना आजकल का फैशन बन गया है। धर्माचार्य भी भ्रष्टाचार के विरुद्ध बोलते हैं, [illegible] और शिक्षाविदों के [illegible] मन्त्री भी भ्रष्टाचार को कोसते हैं, अनर्गल शोषण करके पैसा कमाने वाले उद्योगपति भी भ्रष्टाचार के विरुद्ध झण्डा उठाकर अगुआ हो रहे हैं, सामाजिक कार्यकर्ता भी भ्रष्टाचार के विरुद्ध अनशन तक कर लेते हैं, पत्रकारों की कलम आये दिन होने वाले भ्रष्टाचार की कलई खोलने में पीछे नहीं है, अधिकारियों को तो भ्रष्टाचार का नाम भी अच्छा नहीं लगता और यहाँ तक कि जन-जन के मुख पर भ्रष्टाचार की खुली निन्दा है। ऐसी परिस्थिति में लगता है कि भ्रष्टाचार को बुरा बताकर सभी व्यक्ति उसके फलने-फूलने में परोक्ष सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

बुरा बता देने मात्र से उसकी जड़ें हिलने वाली नहीं हैं। उसके लिए तो व्यवस्था-परिवर्तन के कुछ ठोस आधार खोजने होंगे। भ्रष्टाचार ने अपने पैर इतनी मजबूती से जमा लिए हैं कि मात्र निन्दा करने से वह समाज से पलायन करने वाला नहीं है। आश्चर्य तो तब होता है, जब भ्रष्टाचार की निन्दा करने वाले ही उस कार्य में अगुआ मिलते हैं। यह भी एक कारण है, कि छुट-पुट रूप से होने वाले भ्रष्टाचार को बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ा कर बताया जा रहा है, जिससे बड़े रूप में होने वाले भ्रष्टाचार की ओर सामान्यतया अंगुलि ही न उठे और बड़े भ्रष्टाचारी भ्रष्ट कहलाने से बच जाएं। इस रोग के प्रतिकार के लिए गहराई से चिन्तन और तदनुकूल प्रयत्न अपेक्षित है। मात्र ऊपरी उपचार से यह भयंकर रोग समाप्त होने वाला नहीं है।

विदेशी एजेन्सियां

भ्रष्टाचार के कुछ मूलभूत पहलू हैं, जिनकी ओर सरकार तथा

का सम्बद्ध मन्त्रियों पर दबाव डाल कर अपने चुनाव क्षेत्र में स्थानांतरण भी करवा लेते हैं। फिर वे उनके माध्यम से जो चाहें, करवाते हैं। क्या कभी इस प्रकार के भ्रष्टाचार के विरुद्ध भी किसी ने आन्दोलन छेड़ा ?

अधिकारियों से सम्बद्ध एक प्रकार का भ्रष्टाचार और भी है, जो समाज को चौंका देने वाला है। पद-यात्रा मेरा जीवन व्रत है; अतः अनेक प्रदेशों के छोटे-बड़े नगरों, देहातों, जिला-मुख्यालयों तथा प्रान्तीय राजधानियों में जाने का अवसर मिला है। सैकड़ों उच्चाधिकारियों एवं अधिकारियों से मुक्त चर्चाएं हुई हैं। उन सबके आधार पर निष्कर्ष यह है—पटवारी को उपतहसीलदार, उपतहसीलदार को तहसीलदार, तहसीलदार को उप-जिलाधीश और उप-जिलाधीश को जिलाधीश के घर पर अनाज, फल, शाक-सब्जी, दूध, घी आदि दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं बिना मूल्य पहुँचानी होती हैं। यहां तक कि किसी को गाय, भैंस आदि रखने का शौक होता है, तो उनके घर बिना मूल्य लिए गौ-भैंस तथा उनके लिए घास, चारे आदि की व्यवस्था भी उन्हें ही करनी होती है। सहज ही निष्कर्ष निकलता है, वे अधीनस्थ अधिकारी उसकी पूर्ति किस प्रकार करते हैं ? रिश्वत को यह खुला प्रोत्साहन जिलाधीश से भी अज्ञात नहीं रहता।

मंत्रियों की दुर्बलता का आभास

मंत्रियों को जो वेतन मिलता है, कहा जाता है, वह उनके लिए अपर्याप्त होता है। उनका घरेलू खर्च भी उससे पूरा नहीं चल पाता, जब कि कोठी, कार, कर्मचारी, बिजली-पानी आदि का व्यय सरकारी होता है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मंत्रियों से इस बारे में चर्चा चली तो, कुछ ने बताया, चुनाव-क्षेत्र से बहुत बार सैकड़ों व्यक्ति आते-जाते काम ले कर आते हैं। उनका यदि आतिथ्य नहीं किया जाता है, तो वे इसे बहुत बुरा मानते हैं। आतिथ्य करने पर उस खर्च की

कोई कोसता है तो कोई दुआ भी देता है

कुछ मन्त्रालय ऐसे हैं, जिन्हें एक प्रकार से टकसाल कहा जा सकता है। जिन मंत्रियों के अधीन वे मंत्रालय हो गए या उन मंत्रालयों में जो अधिकारी नियुक्त हो गये, कुछ ही दिनों में विना किसी प्रयत्न के वे लाखों - करोड़ों रुपये संगृहीत करने में सुगमता से सफल हो जाते हैं। ऐसा लगता है, उनके लिए धन छप्पर फाड़ कर बरसता है। लायसेन्स और परमिट प्राप्त करने के लिए उद्योगपतियों को उनके द्वार पर ही पहुँचना होता है। खाली हाथ पहुँचने वालों के लिए वहां प्रवेश निषिद्ध है। लाखों रुपये की खनक ज्यों ही कान में पड़ती है, अधिकारी और मत्री तत्काल तत्पर हो जाते हैं और बिना किसी व्यवधान के उनका वह काम हो जाता है। पूंजीपतियों का गुर है, कुछ लाख रुपये देकर करोड़ों की प्रति वर्ष आय का यदि लायसेंस प्राप्त कर लेते हैं, तो हम कौनसे घाटे के सौदे में हैं? अच्छी राशि पाकर वे स्वयं तथा उनका परिवार भी हमारे प्रति सदैव शुभकामना व्यक्त करेगा। मजदूर यदि हमें कोसते हैं, तो कोई हमें दुआ भी देता है।

लायसेंस देने में किस प्रकार का न्याय बरता जाता है, यह भी छुपा हुआ नहीं है। सरकार को चाहे जितनी हानि उठानी पड़े, मंत्रियों और अधिकारियों को कोई पीड़ा नहीं होती, यदि कुछ लाख रुपये सम्बन्धित मंत्री या अधिकारी के घर पहुँच जाते हैं। पूंजीपति दस लाख रुपये यदि इस प्रकार देते हैं, तो एक करोड़ अपने लिए पहले से ही सुरक्षित रख लेते हैं। उनका सिद्धान्त होता है, तुम भी खाओ, हम भी खाएं। सरकारी योजनाएं पूरी हो पायें या नहीं, इसकी चिन्ता पूंजीपति क्यों करें?

सरकारी उद्योग विफल क्यों?

कुछ उद्योग सरकारी नियंत्रण में चलते हैं और उनके समकक्ष कुछ उद्योग निजी क्षेत्रों में भी चलते हैं। यदि सरकारी उद्योग सफल हो

विरोधी दल समय-समय पर हड़ताल, बन्द व धीमे काम करो का अभियान चलाते रहते हैं। ऐसे अवसरों पर छात्रों तथा बेकार युवकों को विशेषतः औजार बनाया जाता है। छात्र तथा युवक कुछ ही समय में क्रुद्ध हो जाते हैं। वे अपना रोष बसों, डाकघरों, व स्टेशनों को जलाने, दुकानें लूटने, रेल को क्षति पहुँचाने, फैक्टरियों को स्वाहा करने आदि में व्यक्त करते हैं। पुलिस उन पर नियंत्रण करने के लिए लाठी, अश्रुगैस तथा गोली आदि का प्रयोग भी कर लेती है। प्रश्न यह है कि असन्तोष और क्षोभ व्यक्त करने के लिए भी क्या राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट करना चाहिए? बुराई के विरुद्ध क्रान्ति अपेक्षित हो तो उससे कोई भी मुकर नहीं सकता, पर, क्रान्ति के नाम पर राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट कर देना कहां तक उचित कहा जा सकता है। जो देश गरीब है; जिसे विदेशों से मांग-मांग कर अपनी बहुत सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती हो, वहां के नागरिक आन्दोलन के नाम पर एक ही दिन में करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति नष्ट कर देते हों, क्या यह एक प्रकार का स्वैराचार नहीं? मान लीजिए, आन्दोलन के फलस्वरूप वर्तमान सरकार अपदस्थ हो जाती है और आन्दोलन-कर्ता दल पदारूढ़ हो जाता है, तो उसी दल को उस क्षति को पूर्ण करने में कितना समय, श्रम और साधन जुटाने आवश्यक हो जायेंगे और उसमें कितनी शक्ति का व्यय होगा। विरोधी दल सोचें। उनके विरोध में रचनात्मक रुख होना चाहिए। देश की सम्पत्ति का विनाश नहीं होना चाहिए और उत्पादन-क्षमता पर भी कोई प्रतिकूल परिणाम नहीं आना चाहिए।

काला धन

भारत में काला धन बहुत बढ़ गया है। वह उद्योगपतियों के पास भी है और जनता के पास भी। मात्रा की न्यूनाधिकता अवश्य है। आम तौर से देखा जाता है, जिसके पास काला धन जितनी अधिक मात्रा में है, वह उतना ही समाज पर अपना पंजा अधिक मारता है।

सार्वजनिक संस्थाओं के चलाने के लिए धन चाहिए, चाहे विद्यालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय आदि कुछ भी हों। राजनैतिक दलों का काम भी बिना धन के नहीं चलता। धर्माचार्यों के गुरुडम को पोषण भी धन से ही मिलता है। उनके चारों ओर भी काले धन वाले मंडराते रहते हैं। धर्माचार्यों की योजनाएं भी अधूरी रह जाती हैं, यदि काले धन वाले पूंजीपति हाथ खींच लें। परिणाम यह हुआ, सार्वजनिक संस्थाओं, राजनैतिक दलों के कामों तथा धर्माचार्यों की योजनाओं को आगे बढ़ाने में काले धन वाले सहयोग करते हैं और उसके विनिमय में वे पूंजीपति सम्मान, पद तथा बड़ी-बड़ी उपाधियां पाते हैं। एक दूसरे की यह सांठ-गांठ भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने में निमित्त बनती है। पूंजीपति उन्हीं के माध्यम से शोषण कर काला धन बटोरते हैं और सन्मान पाकर बगुले की तरह उजले भी रह जाते हैं। उनके अहं का पोषण होता रहता है और उनकी शोषण मूलक जहरीली जड़ ज्यों की त्यों हरी रह जाती है। यदि भारत से भ्रष्टाचार को समाप्त करना है, तो सार्वजनिक कार्यकर्ताओं, राजनयिकों तथा धर्माचार्यों को काला धन बटोरने वाले पूंजीपतियों से अपनी सांठ—गांठ समाप्त करनी होगी और आम जनता के साथ घुलना-मिलना होगा। आज शक्ति-सन्तुलन जनता के हाथ में है, कालाबाजारिये पूंजीपतियों के हाथों में नहीं। वे ही योजनाएं और कार्यक्रम सफल हो सकेंगे, जिनका सीधा सम्बन्ध समाज की बहुसंख्यक जनता के साथ जुड़ता हो।

वर्तमान में धर्माचार्य, राजनेता तथा सार्वजनिक कार्यकर्ता जनता से कटे हुऐ नजर आ रहे हैं। जनता के हृदय में उनके लिए जो स्थान होना चाहिए, वह नहीं है। इसका एक मुख्य कारण है, काले धन के साथ उनका सीधा सम्बन्ध। समाज को नई करवट देने के लिए यह आवश्यक है कि काले धन वाले व्यक्तियों का समाज में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न हो, बल्कि उन्हें [illegible] रूप में

विरोधी दल समय-समय पर हड़ताल, बन्द व धीमे काम करो का अभियान चलाते रहते हैं। ऐसे अवसरों पर छात्रों तथा बेकार युवकों को विशेषतः औजार बनाया जाता है। छात्र तथा युवक कुछ ही समय में क्रुद्ध हो जाते हैं। वे अपना रोष बसों, डाकघरों, व स्टेशनों को जलाने, दुकानें लूटने, रेल को क्षति पहुँचाने, फैक्टरियों को स्वाहा करने आदि में व्यक्त करते हैं। पुलिस उन पर नियंत्रण करने के लिए लाठी, अश्रुगैस तथा गोली आदि का प्रयोग भी कर लेती है। प्रश्न यह है कि असन्तोष और क्षोभ व्यक्त करने के लिए भी क्या राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट करना चाहिए? बुराई के विरुद्ध क्रान्ति अपेक्षित हो तो उससे कोई भी मुकर नहीं सकता, पर, क्रान्ति के नाम पर राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट कर देना कहां तक उचित कहा जा सकता है। जो देश गरीब है; जिसे विदेशों से मांग-मांग कर अपनी बहुत सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती हो, वहां के नागरिक आन्दोलन के नाम पर एक ही दिन में करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति नष्ट कर देते हों, क्या यह एक प्रकार का स्वैराचार नहीं? मान लीजिए, आन्दोलन के फलस्वरूप वर्तमान सरकार अपदस्थ हो जाती है और आन्दोलन-कर्ता दल पदारूढ़ हो जाता है, तो उसी दल को उस क्षति को पूर्ण करने में कितना समय, श्रम और साधन जुटाने आवश्यक हो जायेंगे और उसमें कितनी शक्ति का व्यय होगा। विरोधी दल सोचें। उ..के विरोध में रचनात्मक रुख होना चाहिए। देश की सम्पत्ति का विनाश नहीं होना चाहिए और उत्पादन-क्षमता पर भी कोई प्रतिकूल परिणाम नहीं आना चाहिए।

काला धन

भारत में काला धन बहुत बढ़ गया है। वह उद्योगपतियों के पास भी है और जनता के पास भी। मात्रा की न्यूनाधिकता अवश्य है। आम तौर से देखा जाता है, जिसके पास काला धन जितनी अधिक मात्रा में है, वह उतना ही समाज पर अपना पंजा अधिक मारता है।

आंका जाए। समाज के सर्वसाधारण को उभरने न देने में काले धन वालों ने अपनी अनेक कलाबाजियां काम में ली हैं और उनमें वे सफल भी हुए हैं। पर, वर्तमान का समाज अब उसे सहन नहीं कर सकेगा। उसमें चेतना के स्वर मुखर हो चुके हैं। भ्रष्टाचार को समाज से नहीं मिटने देने में जो सबसे बड़ी बाधा है, उसे समाप्त करने की ओर समाज को जागरूक होना होगा।

राष्ट्रीयता की कमी

भ्रष्टाचार के बढ़ने में एक मुख्य कारण नागरिकों में राष्ट्रीयता की कमी भी है। व्यक्ति अपने स्वार्थ को प्रधानता दे देता है और उसके स्थान पर राष्ट्र को चाहे जितनी क्षति उठानी पड़े, उसे कोई पीड़ा की अनुभूति नहीं होती। यदि राष्ट्रीयता को प्रधानता होती, तो एक अधिकारी रिश्वत लेते हुए सकुचाता, एक व्यापारी अनहद लाभ से कतराता तथा एक श्रमिक काम से जी चुराने से अपने को बचाता। पर, स्थिति उल्टी है। प्रत्येक व्यक्ति अपने घर को भरने में अधिक व्यग्र है, चाहे पड़ोसी को कितनी भी हानि क्यों न उठानी पड़े। यदि राष्ट्रीयता होती, तो भाषा, जाति, सम्प्रदाय तथा प्रान्त के प्रश्न उभर कर सामने न आते। एक सैनिक देश की इंच-इंच भूमि की रक्षा के लिए प्राणों का बलिदान दे सकता है, पर, एक व्यापारी या अधिकारी ऐसे अवसर पर भी अपने घर को भरने की ही सोचता है।

व्यक्ति के स्वार्थ को धर्म ने परमार्थ में बदला था। धर्म ने व्यक्ति को सिखाया था कि वह स्वयं ही अन्तिम इकाई नहीं है। उसके परि-पार्श्व में भी और कुछ है और उसका विस्तार अनन्त तक है। उसकी दृष्टि स्व के छोटे से घेरों में ही सिमट कर न रह जाए। उसका अनन्त विस्तार हो। वह हुआ भी। व्यक्ति बहुत लम्बे समय तक स्वार्थ से विमुख रहा, किन्तु, जब से धर्म ने सम्प्रदाय का मुखौटा

मतदाता क्या करें; क्या न करें ?

☆

भारतीय जनता की आस्था जनतंत्र में है। वह अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान जनतंत्र के अतिरिक्त अन्य व्यवस्था-प्रणालियों में खोजना नहीं चाहती। जनता के द्वारा जनता के लिये, जनता का शासन, इससे बढ़कर प्रगति और विकास की अन्य प्रक्रिया ही क्या हो सकती है ! लगभग ढाई दशक से यह प्रयोग चल रहा है, पर, लगता है, जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है। आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक आदि सभी समस्यायें व्यायतमुखी ज्यों–की–त्यों हैं। यहाँ तक कि अन्न की मूलभूत समस्या का समाधान भी अब तक नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में जनता का विश्वास कई बार जनतंत्र से हिलता हुआ दिखलाई देता है। पर, कुछ क्षण बाद पुनः प्रश्न उभर आता है, जनतंत्र के अतिरिक्त अन्य व्यवस्था भी तो क्या हो सकती है ?

जातीयता और साम्प्रदायिकता का भूत

जनतंत्र की सफलता तथा विफलता का मूल आधार मतदाताओं की जागरूकता पर निर्भर करता है। मतदाता जितना प्रबुद्ध होगा, जनतंत्र को भी वह उतना ही प्रशस्त बना सकेगा। बहुधा देखा जाता है, चर्चा जनतंत्र की होती है और कार्य उससे उल्टे होते हैं। मतदाता के मन में साम्प्रदायिकता, जातीयता तथा क्षेत्रीय भावना आदि के क्षुद्र कीटाणु घर किये रहते हैं। प्रत्येक उम्मीदवार को कुछ आधारों पर तोला जाता है। वह मेरे सम्प्रदाय का अनुयायी है या नहीं ? किस जाति से सम्बद्ध है। वह क्षेत्रीय भावना को आगे बढ़ाने में कितना

मतदाता क्या करें; क्या न करें ?

☆

भारतीय जनता की आस्था जनतंत्र में है। वह अपनी प्रत्येक समस्या का समाधान जनतंत्र के अतिरिक्त अन्य व्यवस्था-प्रणालियों में खोजना नहीं चाहती। जनता के द्वारा जनता के लिये, जनता का शासन, इससे बढ़कर प्रगति और विकास की अन्य प्रक्रिया ही क्या हो सकती है ? लगभग ढाई दशक से यह प्रयोग चल रहा है, पर, लगता है, जनता की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है। आर्थिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक, शैक्षणिक आदि सभी समस्यायें व्यायतमुखी ज्यों-की-त्यों हैं। यहाँ तक कि अन्न की मूलभूत समस्या का समाधान भी अब तक नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में जनता का विश्वास कई बार जनतंत्र से हिलता हुआ दिखलाई देता है। पर, कुछ क्षण बाद पुनः प्रश्न उभर आता है, जनतंत्र के अतिरिक्त अन्य व्यवस्था भी तो क्या हो सकती है ?

जातीयता और साम्प्रदायिकता का भूत

जनतंत्र की सफलता तथा विफलता का मूल आधार मतदाताओं की जागरूकता पर निर्भर करता है। मतदाता जितना प्रबुद्ध होगा, जनतंत्र को भी वह उतना ही प्रशस्त बना सकेगा। बहुधा देखा जाता है, चर्चा जनतंत्र की होती है और कार्य उससे उल्टे होते हैं। मतदाता के मन में साम्प्रदायिकता, जातीयता तथा क्षेत्रीय भावना आदि के क्षुद्र कीटाणु घर किये रहते हैं। प्रत्येक उम्मीदवार को कुछ आधारों पर तोला जाता है। वह मेरे सम्प्रदाय का अनुयायी है या नहीं ? किस जाति से सम्बद्ध है। वह क्षेत्रीय भावना को आगे बढ़ाने में कितना

सक्षम है ? जहाँ उम्मीदवार की केवल यही कसौटी होती है, वहाँ जनतंत्र गौण हो जाता है। कहा जाना चाहिए, वहाँ जनतंत्र के शव की ही केवल अर्चा होती है। देश की व्यवस्था का मूल प्रश्न अर्थनीति के साथ जुड़ा होता है। अधिकांश मतदाता इस ओर से उदासीन रहते हैं। किस दल की क्या अर्थनीति है, यह जानकारी बहुलांश में उन्हें नहीं होती। जब तक यह अज्ञात रहेगी, कौनसा दल योग्य है और वह देश को प्रगति की ओर कितना ले जा सकता है, यह अनुभूति ही नहीं हो पायेगी। फिर जनतंत्र प्रगति-तंत्र न रहकर केवल भीड़तंत्र हो जायेगा।

जनता की अजानकारी का लाभ राजनैतिक दल भी उठाते हैं। वे जातीयता तथा साम्प्रदायिकता का तूफान खड़ा कर देते हैं। जनता उसमें चुंधिया जाती है और यथार्थता पर टिक नहीं पाती। फिर वही सब कुछ होता है, जो राजनयिक चाहते हैं। जनतंत्र को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक है, जातीयता और साम्प्रदायिकता भूत खड़ा ही न होने दिया जाये।

बहुधा देखा जाता है, राजनैतिक दल अपनी सफलता तथा असफलता का अंकन करने के लिए अनुमानित आँकड़े एकत्रित करते हैं, किस चुनाव-क्षेत्र में किस-किस जाति और किस-किस सम्प्रदाय के कितने मतदाता हैं ? जहाँ जिस जाति और जिस सम्प्रदाय की बहुलता होती है, वहाँ उसी प्रकार के वातावरण को बनाकर अपने पक्ष को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया जाता है। यह नीति स्वयं के जीतने में तो किसी सीमा तक उपयोगी हो सकती है, पर, जनतंत्र के साथ यह मूक उपहास होता है और उसकी दुर्बलता क्रमशः बढ़ती जाती है। इससे प्रतिक्रियावादी शक्तियां भी उभर आती हैं और वे समाज को जर्जर कर डालती हैं। जनतंत्र समाज के लिए जितना उपयोगी है, प्रतिक्रियावादी शक्तियां उतनी ही घातक हैं। राजनैतिक दल तनिक-सी सफलता के मोह में ऐसी भयंकर गलती न करें।

आरम्भ हो जाती है, जो प्रशासन को अस्त-व्यस्त कर देती है। आया राम, गया राम विधायकों से किसी भी ठोस काम की आशा नहीं की जा सकती। दल-बदलुओं ने जनतंत्र के साथ कैसा खिलवाड़ किया था, यह विगत की घटनाओं से नितान्त स्पष्ट है। छोटे-छोटे राजनैतिक दलों द्वारा देश की किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं हो सकती। वे तो प्रत्युत सशक्त विरोधी दल के निर्माण की सम्भावना को धूमिल कर शासक-पक्ष को खुलकर पद का दुरुपयोग करने की छूट देने में भी परोक्ष सहायक हो जाते हैं।

जब चुनाव निकट आते हैं, तीन दलों में, चार दलों में गठबन्धन हो जाता है। सिद्धान्तों और उद्देश्यों की समानता न होते हुए भी वे कृत्रिम एकता प्रदर्शित करते हैं। ऐसा करके वे अपनी दुर्बलताओं पर नया नकाब डालने का प्रयत्न करते हैं, जिसे प्रबुद्ध मतदाता तत्काल उतार फेंकता है। उनका पनपना जनतंत्र के दश-बीस वर्ष पीछे ले जाने के समान होता है।

सशक्त विरोधी दल

जनतंत्र में सशक्त विरोधी दल भी आवश्यक माना जाता है। समान स्तर के दो दल होते हैं, तो शासक पक्ष कदम-कदम पर सम्भल कर चलता है। अपने प्रति जनता के विश्वास को वह किसी भी मूल्य पर कम नहीं होने देता। ऐसा तभी सम्भव होता है, जबकि स्वार्थों को भुलाकर केवल वहाँ सेवा-व्रत को ही प्रधानता दी जाती है। भारत में अब तक भी सशक्त विरोधी दल नहीं बन पाया है। राजनैतिक दलों की अधिकता उनमें बिखराव कर देती है। शासक-पक्ष के लिए यह लाभ का निमित्त बन जाता है।

अर्थनीति से सम्बद्ध मुख्यतः दो विचारधारायें हैं: १. वाम पंथी तथा २. दक्षिणपंथी। पहली विचारधारा में अर्थ के मुख्य साधनों का स्वामित्व राष्ट्र के हाथ में केन्द्रित रहता है, जबकि दूसरी विचारधारा

[illegible] सफलता पाई जा सकती है। [illegible] करण भी इतना उपयोगी नहीं है और [illegible] करोड़ों [illegible] यह भी उचित नहीं है। दोनों की अतियों से बचकर ही नई आर्थिक नीति उपयोगी हो सकती है।

पांच सूत्र

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे बड़ा प्रान्त है। आगामी दिनों में होने वाले वहाँ के विधान सभा के चुनाव जनतंत्र की कसौटी बन सकते हैं; अतः मतदाता विशेष जागरूक रहें। उनके लिए आधारभूत कुछ सूत्र इस प्रकार हैं :

१. साम्प्रदायिकता तथा जातीयता के आधार पर मतदान न करें।

२. छोटे-छोटे कुकुरमुत्ते राजनैतिक दलों का प्रश्रय न दें।

३. प्रतिक्रियावादी एवं हिंसा-भावना को पनपाने वाले दलों को महत्व न दें।

४. राजनैतिक दलों के गठबन्धन से सावधान रहें।

५. चुनाव-सभाओं तथा चुनाव-केन्द्रों पर हिंसक घटनाएँ न करें।

नैतिक विस्तार के लिए सक्षम कदम आवश्यक

★

भारत का नैतिक स्तर गिरा हुआ है। यहाँ का एक अभाव-ग्रस्त
ी अनैतिक व्यवहार करते हुए नहीं सकुचाता, मध्य वर्ग का व्यक्ति
ी अनैतिकता का व्यवहार करता है तथा सम्पन्न व्यक्ति भी अनैतिकता
आगे रहता है। भारतीय नागरिकों का धर्म-कर्म में अधिक विश्वास
, फिर भी अनैतिक व्यवहार होता है, यह एक महान् आश्चर्य है।
हज ही प्रश्न होता है, अनैतिकता के परिहार के लिए क्या धर्म कोई
ोस कदम नहीं उठाता है या अनैतिक व्यवहार भी उसके द्वारा
म्मत हो चुके हैं? खाद्य पदार्थों में मिलावट जैसी घिनौनी अनै-
तिकता को अनैतिकता माना ही नहीं जा रहा है। ऐसा लगता
, नैतिकता-सम्बन्धी भारतीय मानदण्ड सर्वथा बदल चुके हैं।

ापण नहीं, कर्तृत्व

इस देश में हजारों वर्षों की धार्मिक परम्परा का महान् इतिहास
है। हर नागरिक उस इतिहास पर गौरव की अनुभूति करता है। पर
लगता है, धर्म के मौलिक सिद्धान्त वाणी तक ही सीमित रह गये हैं।
साथ ही धार्मिक गुरुओं की अधिकता तथा उनके नैरन्तरिक उपदेश
के कारण भारतीयों ने बोलना बहुत सीख लिया है, पर, आचरण में
उतारना नहीं। यही कारण है कि नैतिकता-अनैतिकता की बातें अधिक
बघारी जाती हैं; किया कुछ भी नहीं जाता। ऐसा लगता है, कर्तृत्व
से उनका विश्वास हट गया है। जब कर्तृत्व नहीं रहेगा, तब उपदेश
का भी क्या स्थायी लाभ रह पायेगा? अपेक्षा है, वाणी से अधिक
कर्तृत्व में विश्वास उत्पन्न ि

धर्म और अर्थ की सांठ-गांठ

समाज व्यवस्था के आधार पर चलता है। अर्थ उसकी मूल धुरी होता है। सामाजिक व्यवस्थाओं के परिचालन में आर्थिक व्यवस्थाओं के बारे में धर्म जब तक उदासीनता बरतेगा, मूलभूत समस्या ज्यों-की-त्यों रहेगी। अर्थ को अनर्थ का मूल कारण धार्मिकों ने बताया, पर, समाज-संचालन में रहे हुए उसके प्रभुत्व को खण्डित करने के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया, बल्कि कहना चाहिए, धार्मिकों ने अर्थ के साथ साँठ-गाँठ कर ली और दोनों एक-दूसरे के बचाव में अपनी शक्ति का उपयोग करने लगे। इससे अर्थ के प्रभुत्व की सुरक्षा तो हो गई, किन्तु, धर्म का वर्चस्व समाप्तप्रायः हो गया। कहना चाहिए, धर्म के लिए यह सौदा सरासर घाटे का रहा। अर्थपति जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों को अपना ओजार बनाकर उन्हें निस्तेज कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धर्म को भी औजार बनाकर निस्तेज कर दिया। किन्तु, धर्म को प्रभावी होने के लिए और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अर्थ के साथ हुए बेमेल गठजोड़ को सदा के लिए समाप्त करना होगा। साथ ही अर्थ के कारण समाज में जो दुर्व्यवस्थाएं आरम्भ हो गई हैं, उन्हें निरस्त कर नई व्यवस्थाओं को जन्म देने के लिए भी प्रस्तुत रहना होगा। जब व्यवस्थाओं के साथ धर्म का गहरा सम्बन्ध जुड़ जायेगा, अनैतिकता सदा के लिए समाप्त हो जायेगी।

धर्म का सामुदायिक रूप

एक युग था, जबकि सत्ता को पैतृक धरोहर माना जाता था। किन्तु, जब से जनतन्त्र ने अपने पर फैलाए हैं, सत्ता वैयक्तिकता से हटकर सामुदायिकता के साथ जुड़ चुकी है। यही प्रयोग शिक्षा, चिकित्सा, उद्योग, व्यापार आदि-आदि क्षेत्रों में भी हो रहे हैं। यहाँ तक कि खेती-बारी जैसे धन्धों को भी सामुदायिकता का रूप दिया

आ रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म गुरु भी सोचें कि धर्म जो हजारों वर्षों से केवल वैयक्तिक साधना का ही निमित्त रहा है, उसे सामुदायिकता में किस प्रकार ढाला जा सकता है। यदि सामुदायिकता में बदलने में धर्म गुरु सफल हो गये, तो निश्चित ही आने वाले युग में धर्म को वे बचा सकेंगे और उसे उपयोगी भी बना सकेंगे। यदि ऐसा वे नहीं कर पाये, तो कहा नहीं जा सकता कि भविष्य धर्म का कितना साथ देगा। धर्म जब सामुदायिक रूप ले लेगा, तो आज के युग में पुष्पित होने वाली छोटी तथा बड़ी अनैतिकताएँ भी स्वतः समाप्त हो जायेंगी।

प्रश्न है, धर्म को सामुदायिक रूप दिया कैसे जाए? हजारों वर्षों से यह तो व्यक्तिगत साधना का ही अंग रहा है। धर्म से सम्बद्ध ये रूढ़ विचार इतने गहरे हो चुके हैं कि इस पहलू पर दूसरे दृष्टिकोण से चिन्तन करना नास्तिकता का तरह लगता है, पर, यथार्थता यह है कि समता, स्वतंत्रता, न्याय तथा शोषणहीन प्रवृत्ति धर्म के मुख्य अंग हैं। इनका उपयोग व्यक्तिगत जीवन में न होकर सामूहिक ही होता है, इस तथ्य को क्यों भुला दिया जाता है? धर्म के ये शाश्वत अंग सामुदायिकता में ही फलित होते हैं। सामुदायिकता के अभाव में इनका कोई महत्व तथा अस्तित्व ही नहीं रह जाता। जब सिद्धान्ततः इसे स्वीकृत कर लिया जाता है, तब सामुदायिकता तो स्वभावतः ही फलित हो जाती है।

बहुधा देखा जाता है, धार्मिकों ने समानता, स्वतंत्रता, सह-अस्तित्व आदि के बारे में उपदेश तो दिया, किन्तु, उनके व्यवहारिक प्रयोग प्रस्तुत करने में सर्वथा मौन ही साधा। परिणामतः समाज में धर्म तो रहा, पर, वह सर्वथा निस्तेज हो गया और सामाजिक विषमताओं के उन्मूलन में अक्षम भी हो गया।

समानता, स्वतंत्रता आदि जीवन के शाश्वत मूल्यों को सामाजिक रूप देने के लिए यह आवश्यक होगा कि ढर्रे से चली आने वाली

धर्म और अर्थ की सांठ-गांठ

समाज व्यवस्था के आधार पर चलता है। अर्थ उसकी मूल धुरी होता है। सामाजिक व्यवस्थाओं के परिचालन में आर्थिक व्यवस्थाओं के बारे में धर्म जब तक उदासीनता बरतेगा, मूलभूत समस्या ज्यों-की-त्यों रहेगी। अर्थ को अनर्थ का मूल कारण धार्मिकों ने बताया, पर, समाज-संचालन में रहे हुए उसके प्रभुत्व को खण्डित करने के लिए कोई प्रभावी कदम नहीं उठाया, बल्कि कहना चाहिए, धार्मिकों ने अर्थ के साथ साँठ-गाँठ कर ली और दोनों एक-दूसरे के बचाव में अपनी शक्ति का उपयोग करने लगे। इससे अर्थ के प्रभुत्व की सुरक्षा तो हो गई, किन्तु, धर्म का वर्चस्व समाप्तप्रायः हो गया। कहना चाहिए, धर्म के लिए यह सौदा सरासर घाटे का रहा। अर्थपति जिस प्रकार अन्य व्यक्तियों को अपना ओजार बनाकर उन्हें निस्तेज कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने धर्म को भी औजार बनाकर निस्तेज कर दिया। किन्तु, धर्म को प्रभावी होने के लिए और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अर्थ के साथ हुए बेमेल गठजोड़ को सदा के लिए समाप्त करना होगा। साथ ही अर्थ के कारण समाज में जो दुर्व्यवस्थाएं आरम्भ हो गई हैं, उन्हें निरस्त कर नई व्यवस्थाओं को जन्म देने के लिए भी प्रस्तुत रहना होगा। जब व्यवस्थाओं के साथ धर्म का गहरा सम्बन्ध जुड़ जायेगा, अनैतिकता सदा के लिए समाप्त हो जायेगी।

धर्म का सामुदायिक रूप

एक युग था, जबकि सत्ता को पैतृक धरोहर माना जाता था। किन्तु, जब से जनतन्त्र ने अपने पर फैलाए हैं, सत्ता वैयक्तिकता से हटकर सामुदायिकता के साथ जुड़ चुकी है। यही प्रयोग शिक्षा, चिकित्सा, उद्योग, व्यापार आदि-आदि क्षेत्रों में भी हो रहे हैं। यहाँ तक कि खेती-बारी जैसे धन्धों को भी सामुदायिकता का रूप दिया

व्यवस्थाओं में और संस्कारों में आमूलचूल परिवर्तन किया जाए। जातीयता के नाम पर चलनेवाले उच्चता और हीनता के विचार जब समाप्त होंगे, समानता का सिद्धान्त क्रियान्वित हो जायेगा। किसी जाति विशेष में जन्म लेने वाला हीन या उच्च हो जाये; इन बद्धमूल धारणाओं का अन्त करना होगा और जातीयता के नाम पर दलित वर्गों में व्याप्त हीनता की अनुभूति को भी समाप्त करना होगा।

अमीरी और गरीबी की खाई भी बहुत चौड़ी हो गई है। उसे पाटे बिना सामाजिक स्वस्थता का आरम्भ नहीं हो सकता। परिग्रह से विरक्त करने का उपदेश नाममात्र ही रह गया है। हजारों व्यक्तियों द्वारा परिग्रह का परिमाण किया जाता है, फिर भी आर्थिक विषमता में तनिक भी अल्पता नहीं होती। इसका कारण है कि व्यक्तिगत परिग्रह-परिमाण सामाजिक विषमताओं के उन्मूलन में इतना सक्षम नहीं हो पाया है। कारण यह है कि सामान्यतया परिग्रह का परिमाण वे ही व्यक्ति करते हैं, जो व्यापार आदि से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में उनका यह व्यक्तिगत सन्तोष उन तक ही सीमित रह जाता है। व्यापार में ऐसे कार्यों को न पनपने दिया जाये, जिससे पूंजी कुछ व्यक्तियों के हाथों में सिमट जाये।

यह भी देखा जाता है, अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति प्रज्ञा-सम्पन्न तथा श्रम-सम्पन्न व्यक्ति को अपनी कठपुतली बना लेता है। उद्योग तथा व्यापार में उनका मुक्त उपयोग करता है, उनसे अनहद पूंजी जमा करता है तथा उसके प्रत्यावर्तन में प्रज्ञा एवं श्रम-सम्पन्न व्यक्तियों को अहसानपूर्वक थोड़ा-सा धन वितरित कर पूर्णता अनुभव करने लगता है। जब तक उद्योग एवं व्यापार में संलग्न प्रज्ञा एवं श्रम-सम्पन्न व्यक्तियों को भागीदार नहीं समझा जायेगा, तब तक आर्थिक विषमता मिट नहीं पायेगी और न उत्पादन भी बढ़ पायेगा। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जिस कार्य में उसे अपना हित लगता है, उसमें वह प्राणपण से जुट

ड़ता है, किन्तु, जहाँ उसे लगता हो कि मेरे श्रम का लाभ कोई दूसरा ही उठा रहा है, वहाँ वह श्रम से हाथ खींच लेता है। भारत में उत्पादन में वृद्धि न होने का एक यह भी मुख्य कारण है। परिणामतः एक ओर अर्थ का बड़ा ढेर लगता जा रहा है और दूसरी ओर उत्पादन गिरता जा रहा है। इससे सामाजिक विषमताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। धर्म गुरु अपने प्रभाव से अर्थ-समविभाग की समस्या को सुलझाने में यदि हिस्सेदारी के गुर का प्रयोग करते हैं, तो धर्म का सामुदायिक रूप स्वतः बन जाता है। यदि इस विषय में सर्वथा मौन ही साधा गया या केवल उपदेश ही दिया जाता रहा, तो समाज की आर्थिक विषमताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाएँगी और ये विषमताएँ एक दिन धर्म को निगल भी सकती हैं।

समाज में नैतिकता तभी फलवती हो सकती है, जबकि अर्थ की मूलभूत समस्या के समाधान के लिए कुछ ठोस कदम उठाये जायें। वह रक्तिम क्रान्ति का भी हो सकता है, जैसा कि भारत के कई पड़ोसी देशों में हुआ है। किन्तु, यह कार्य यदि व्यवस्थाओं में कुछ परिवर्तन करने मात्र से सम्भव हो सके, तो रक्तिम क्रांति को न्योता क्यों दिया जाये? भारत का विश्वास सदैव शान्ति, सद्भावना एवं सौजन्य में रहा है; अतः यह सब कुछ भी इन्हीं भावनाओं को अक्षुण्ण रखते हुए किया जाना चाहिए। अणुव्रत आन्दोलन ने अब तक केवल उपदेश के ही मार्ग का अवलम्बन किया है। यदि वह व्यवस्थाओं के परिवर्तन के लिए सक्षम कदम उठा सके, तो निश्चित ही भारत की मूलभूत समस्याओं के समाधान में वह उपयोगी हो सकता है।

★

व्यवस्थाओं में और संस्कारों में आमूलचूल परिवर्तन किया जाए। जातीयता के नाम पर चलनेवाले उच्चता और हीनता के विचार जब समाप्त होंगे, समानता का सिद्धान्त क्रियान्वित हो जायेगा। किसी जाति विशेष में जन्म लेने वाला हीन या उच्च हो जाये; इन बद्धमूल धारणाओं का अन्त करना होगा और जातीयता के नाम पर दलित वर्गों में व्याप्त हीनता की अनुभूति को भी समाप्त करना होगा।

अमीरी और गरीबी की खाई भी बहुत चौड़ी हो गई है। उसे पाटे बिना सामाजिक स्वस्थता का आरम्भ नहीं हो सकता। परिग्रह से विरक्त करने का उपदेश नाममात्र ही रह गया है। हजारों व्यक्तियों द्वारा परिग्रह का परिमाण किया जाता है, फिर भी आर्थिक विषमता में तनिक भी अल्पता नहीं होती। इसका कारण है कि व्यक्तिगत परिग्रह-परिमाण सामाजिक विषमताओं के उन्मूलन में इतना सक्षम नहीं हो पाया है। कारण यह है कि सामान्यतया परिग्रह का परिमाण वे ही व्यक्ति करते हैं, जो व्यापार आदि से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में उनका यह व्यक्तिगत सन्तोष उन तक ही सीमित रह जाता है। व्यापार में ऐसे कार्यों को न पनपने दिया जाये, जिससे पूंजी कुछ व्यक्तियों के हाथों में सिमट जाये।

यह भी देखा जाता है, अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति प्रज्ञा-सम्पन्न तथा श्रम-सम्पन्न व्यक्ति को अपनी कठपुतली बना लेता है। उद्योग तथा व्यापार में उनका मुक्त उपयोग करता है, उनसे अनहद पूंजी जमा करता है तथा उसके प्रत्यावर्तन में प्रज्ञा एवं श्रम-सम्पन्न व्यक्तियों को अहसानपूर्वक थोड़ा-सा धन वितरित कर पूर्णता अनुभव करने लगता है। जब तक उद्योग एवं व्यापार में संलग्न प्रज्ञा एवं श्रम-सम्पन्न व्यक्तियों को भागीदार नहीं समझा जायेगा, तब तक आर्थिक विषमता मिट नहीं पायेगी और न उत्पादन भी बढ़ पायेगा। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जिस कार्य में उसे अपना हित लगता है, उसमें वह प्राणपण से जुट

पड़ता है, किन्तु, जहाँ उसे लगता हो कि मेरे श्रम का लाभ कोई दूसरा ही उठा रहा है, वहाँ वह श्रम से हाथ खींच लेता है। भारत में उत्पादन में वृद्धि न होने का एक यह भी मुख्य कारण है। परिणामतः एक ओर अर्थ का बड़ा ढेर लगता जा रहा है और दूसरी ओर उत्पादन गिरता जा रहा है। इससे सामाजिक विषमताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। धर्म गुरु अपने प्रभाव से अर्थ-समविभाग की समस्या को सुलझाने में यदि ठेकेदारी के गुर का प्रयोग करते हैं, तो धर्म का साम्प्रदायिक रूप स्वतः बन जाता है। यदि इस विषय में सर्वथा मौन ही साधा गया या केवल उपदेश ही दिया जाता रहा, तो समाज की आर्थिक विषमताएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाएँगी और ये विषमताएँ एक दिन धर्म को निगल भी सकती हैं।

समाज में नैतिकता तभी फलवती हो सकती है, जबकि अर्थ की मूलभूत समस्या के समाधान के लिए कुछ ठोस कदम उठाये जायें। वह रक्तिम क्रान्ति का भी हो सकता है, जैसा कि भारत के कई पड़ोसी देशों में हुआ है। किन्तु, वह कार्य यदि व्यवस्थाओं में कुछ परिवर्तन करने मात्र से सम्भव हो सके, तो रक्तिम क्रांति को न्योता क्यों दिया जाये? भारत का विश्वास सदैव शान्ति, सद्भावना एवं सौजन्य में रहा है; अतः यह सब कुछ भी इन्हीं भावनाओं को अक्षुण्ण रखते हुए किया जाना चाहिए। अणुव्रत आन्दोलन ने अब तक केवल उपदेश के ही मार्ग का अवलम्बन किया है। यदि वह व्यवस्थाओं के परिवर्तन के लिए सक्षम कदम उठा सके, तो निश्चित ही भारत की मूलभूत समस्याओं के समाधान में वह उपयोगी हो सकता है।

★

साधक और प्रशासक : अनुचिन्तन

★

साधक का मनोभाव

साधक आत्मीयता के परिवेश में संसार को देखता है। उसके समक्ष स्व और पर का वलय नहीं होता। उसका आत्म-भाव इतना विस्तृत होता है कि पूर्ण मैत्री का उसमें समावेश होता है। उसके नेत्रों से वात्सल्य का अमृत झरता रहता है। उसके परिपार्श्व में समीपता व दूरता की रेखा नहीं होती। उसका अपना कोई नहीं होता। आशंका उसके पास फटकती भी नहीं। उसके पास सन्देह की दृष्टि नहीं होती। वह विश्वास में पलता है और उसी के सहारे जीता है। वह किसी को सीख भी देता है, तो वाक्-मधुरता के सन्दर्भ में। वह दूसरों की त्रुटियों का परिष्कार करता है, पर, मनोविज्ञान की पुट देकर। उसके हृदय में तलस्पर्शी गहराई होती है। वह शैवाल की तरह सतही नहीं होता। प्रतिशोध, दमन तथा ईर्ष्या से ऊपर उठा हुआ होता है। वह राग से पराङ्मुख होता है, पर, बहुत बड़े परिकर-सारे संसार को आत्मसात् किये रहता है। वह पूर्णतः अभय होता है, क्योंकि अपूर्णताओं की समाप्ति की ओर उसका प्रयत्न होता है। कूटनीति उसकी छाया में भी प्रविष्ट नहीं हो सकती; क्योंकि वहां सरलता के माध्यम से ही सब कुछ संचालित होता है। उदारता का प्राकार इतना सुदृढ़ होता है कि लाख-लाख प्रयत्नों के फलस्वरूप भी संकीर्णता प्रविष्ट नहीं हो सकती। किसी की भी प्रगति उसे चुंधियानेवाली नहीं होती। दूसरों की प्रगति को भी वह अपनी प्रगति मानता है। संक्षेप में, मानवीय भावनाओं का वृत्त इतना सघन होता है कि व[illegible] मदीय ही आभासित होता है।

प्रशासक का मनोभाव

प्रशासक का मनोभाव साधक से विपरीत होता है। वह आशंका में जन्म लेता है, भय में पलता है, सन्देह की उसकी दृष्टि होती है और अविश्वास उसकी सृष्टि। उसके एक हाथ में दमन का चक्र होता है, तो दूसरे हाथ में प्रतिशोध का। उसके कोश में आत्मीयता-वाचक कोई शब्द नहीं होता। अहं-पोषण का भगीरथ प्रयत्न होता है। 'मैं महान्' को प्रमाणित करने के लिए उचित-अनुचित सब कुछ वहां अपनाया जाता है। अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में हजारों का बलिदान भी नगण्य होता है। अपने अनुज के साथ आत्मीयता और पुत्र व शिष्य के प्रति वात्सल्य का भी वहां कोई उदाहरण नहीं देखा जाता। अधिकारों का संवर्द्धन वहां वास्तविक प्रतीत होता है। मैत्री का आधार अपनी समर्थता होता है। मेरी प्रगति को ही सब अपनी प्रगति मानें, यह आग्रह होता है और यथासम्भव इसकी पूर्ति भी की जाती है। जो वह सोचे, सत्य है, जो वह करे, कृत्य है, जो वह करवाये, सृष्टि का नियम है। उसकी अवहेलना करने वाले को कहीं भी ठोर नहीं है। इतिहास का महत्वपूर्ण घटक वह स्वयं होता है और सर्व श्रेष्ठ दार्शनिक का पदक भी वह अन्य किसी को प्रदान करना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझता है। उसके बेसुरे स्वर में जो स्वर मिलाता है, वह विज्ञ होता है। उसकी चापलूसी करने वाला सूझबूझ का धनी हो जाता है। अपनी तनिक-सी स्वार्थ-पूर्ति के लिए करोड़ो-अरबों की हानि भी वह क्षम्य मानता है। व्यवस्था देने तथा उसकी संरक्षा का दायित्व वह अपने पर ओढ़े रहता है। जब तक वह उस दायित्व का निर्वहन करता है, जनता उसे अपना नेता मानती है और उसके साये में पलने का प्रयत्न करती है।

दोनों का अन्तर्भाव कितना यथार्थ ?

साधक और प्रशासक की भिन्न-भिन्न भूमिकाएं अपनी-अपनी सीमा में होती हैं। जब दोनों एक-दूसरी में अन्तर्भावित होकर अन्य को

सामाजिकता के उदय का मूल

★

धर्म का उद्भव समाज को स्वस्थ रखने एवं छोटी-छोटी नाना इकाइयों की पारस्परिक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए हुआ था। संसार के इतिहास में वह स्वर्णिम दिन आया था, जिसमें मानव ने एक दूसरे के उपकार के लिए और पड़ौसी की समस्याओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए स्वयं को समर्पित किया था। उस दिन से इकाई टूट गई थी और सामाजिकता का उदय हुआ था। उसके आधार के रूप में धर्म का प्रयोग हुआ था। जिस मनीषी के मन में ऐसा विचार उद्भूत हुआ और उसने क्रियान्वित कर दिखाया, सचमुच उसका महान् ऋण है, जिसे संसार कभी भूल नहीं पायेगा।

धर्म आधार-भूमि बना और उस पर सामाजिकता के बीज बोये गये। प्रसन्नता की बात है, कुछ ही समय में छोटे से बीज ने विस्तार पाया और उसके मधुर फल सौजन्य, सौहार्द, एकता, भ्रातृत्व, सहिष्णुता आदि के रूप में मनुष्य के सामने आये। उस मनीषी की सूझ पर तात्कालिक मनुष्य ने श्रद्धा के अनगिन फूल चढ़ाये। किन्तु, कुछ ही समय बाद साम्प्रदायिकता के विषाक्त अणुओं ने उस वृक्ष को लील लिया और मधुर फलों में जहाँ-तहाँ विरोध, संघर्ष और झगड़ों के रूप में कषैलापन भी आने लगा। उदारता के खुल्ले आकाश में विचरण करने वाले धर्म पर संकीर्णता का नकाब डाल दिया गया और उसके उन्मुक्त सांस लेने के समस्त मार्ग रोक दिये गये। फलतः धर्म के नाम पर सम्प्रदाय पनपने लगे। इकाइयों को समष्टि में बदलने के उद्देश्य से उद्भूत धर्म पुनः छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित होकर समानान्तर दूसरी इकाई को काटने लगा। जीवन की अनिवार्य समस्याओं के समाधान से उसका सम्बन्ध टूट गया और वह स्वयं समस्या बनकर उभर आया।

सामाजिकता के उदय का मूल

★

धर्म का उद्‌भव समाज को स्वस्थ रखने एवं छोटी-छोटी नाना इकाइयों की पारस्परिक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए हुआ था। संसार के इतिहास में वह स्वर्णिम दिन आया था, जिसमें मानव ने एक दूसरे के उपकार के लिए और पड़ोसी की समस्याओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए स्वयं को समर्पित किया था। उस दिन से इकाई टूट गई थी और सामाजिकता का उदय हुआ था। उसके आधार के रूप में धर्म का प्रयोग हुआ था। जिस मनीषी के मन में ऐसा विचार उद्‌भूत हुआ और उसने क्रियान्वित कर दिखाया, सचमुच उसका महान् ऋण है, जिसे संसार कभी भूल नहीं पायेगा।

धर्म आधार-भूमि बना और उस पर सामाजिकता के बीज बोये गये। प्रसन्नता की बात है, कुछ ही समय में छोटे से बीज ने विस्तार पाया और उसके मधुर फल सौजन्य, सौहार्द, एकता, भ्रातृत्व, सहिष्णुता आदि के रूप में मनुष्य के सामने आये। उस मनीषी की सूझ पर तात्कालिक मनुष्य ने श्रद्धा के अनगिन फूल चढ़ाये। किन्तु, कुछ ही समय बाद साम्प्रदायिकता के विपाक्त अणुओं ने उस वृक्ष को लील लिया और मधुर फलों में जहाँ-तहाँ विरोध, संघर्ष और झगड़ों के रूप में कषैलापन भी आने लगा। उदारता के खुले आकाश में विचरण करने वाले धर्म पर संकीर्णता का नकाब डाल दिया गया और उसके उन्मुक्त सांस लेने के समस्त मार्ग रोक दिये गये। फलतः धर्म के नाम पर सम्प्रदाय पनपने लगे। इकाइयों को समष्टि में बदलने के उद्देश्य से उद्‌भूत धर्म पुनः छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित होकर समानान्तर दूसरी इकाई को काटने लगा। जीवन की अनिवार्य समस्याओं से उसका सम्बन्ध टूट गया और वह स्वयं समस्या

सामाजिकता के उदय का मूल

★

धर्म का उद्भव समाज को स्वस्थ रखने एवं छोटी-छोटी इकाइयों की पारस्परिक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए था। संसार के इतिहास में वह स्वर्णिम दिन आया था, में मानव ने एक दूसरे के उपकार के लिए और पड़ौसी की याओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए स्वयं को समर्पित ा था। उस दिन से इकाई टूट गई थी और सामाजिकता उदय हुआ था। उसके आधार के रूप में धर्म का प्रयोग हुआ। जिस मनीषी के मन में ऐसा विचार उद्भूत हुआ और उसने ान्वित कर दिखाया, सचमुच उसका महान् ऋण है, जिसे संसार ो भूल नहीं पायेगा।

धर्म आधार-भूमि बना और उस पर सामाजिकता के बीज बोये। प्रसन्नता की बात है, कुछ ही समय में छोटे से बीज ने विस्तार ा और उसके मधुर फल सौजन्य, सौहार्द, एकता, भ्रातृत्व, सहिष्णुता दि के रूप में मनुष्य के सामने आये। उस मनीषी की सूझ पर कालिक मनुष्य ने श्रद्धा के अनगिन फूल चढ़ाये। किन्तु, कुछ ही ाय बाद साम्प्रदायिकता के विपाक्त अणुओं ने उस वृक्ष को लील ा और मधुर फलों में जहाँ-तहाँ विरोध, संघर्ष और झगड़ों के रूप कषैलापन भी आने लगा। उदारता के खुल्ले आकाश में विचरण ने वाले धर्म पर संकीर्णता का नकाब डाल दिया गया और उसके मुक्त सांस लेने के समस्त मार्ग रोक दिये गये। फलतः धर्म के नाम सम्प्रदाय पनपने लगे। इकाइयों को समष्टि में बदलने के उद्देश्य से द्भूत धर्म पुनः छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित होकर समानान्तर सरी इकाई को काटने लगा। जीवन की अनिवार्य समस्याओं के समाधान ' उसका सम्बन्ध टूट गया और वह स्वयं समस्या बनकर उभर आया।

प्रभावित करने का प्रयत्न करती है, कुछ विकृतियां तथा कुछ अच्छाइयां उभर कर सामने आ जाती हैं।

बहुधा देखा जाता है, साधक प्रशासन में प्रविष्ट होने का इच्छुक होता है और प्रशासक साधकों का नकाब ओढ़ने का। जब दोनों प्रकार के प्रयत्न होते हैं, सद्-असद् के विवेचन का उपक्रम आवश्यक हो जाता है। प्रशासक साधना के क्षेत्र में अग्रसर होने की यदि यथार्थ प्रक्रिया आरम्भ करता है; व्यवस्था को सात्विक आधार मिल जाता है। उसकी राजसी वृत्तियां संस्कार के क्षेत्र में आगे बढ़ती हैं। समाज के लिए वह स्वर्णिम सूर्योदय होता है।

किन्तु, साधक जब प्रशासन में हस्तक्षेप करता है, तब वहां वह अपनी साधना को भी धूमिल कर देता है और प्रशासकीय अनुभव-शून्य होने से प्रशासन का भी हित नहीं कर सकता। कई बार साधक को अपने संघीय जीवन में भी कूटनीति का प्रयोग करते हुए देखा जाता है। वहां वह छद्म को प्रश्रय देता है और आशंका, भय, अविश्वास आदि के साये में पलने का आदी हो जाता है। परिणाम शून्य आता है।

स्वस्थता यही है, साधक अपनी भूमिका से प्रशासक की भूमिका में चंक्रमण करने का प्रयत्न न करे। प्रशासक साधना के वलय को यदि अपना वलय बनाले, तो उसका सारा गदलापन दूर होकर व्यवस्था-संरक्षण की परिधि में वह जागरूक हो जाता है।

*

सामाजिकता केउदय का मूल

★

धर्म का उद्‌भव समाज को स्वस्थ रखने एवं छोटी-छोटी नाना इकाइयों की पारस्परिक एकता को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए हुआ था। संसार के इतिहास में वह स्वर्णिम दिन आया था, जिसमें मानव ने एक दूसरे के उपकार के लिए और पड़ौसी की समस्याओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए स्वयं को समर्पित किया था। उस दिन से इकाई टूट गई थी और सामाजिकता का उदय हुआ था। उसके आधार के रूप में धर्म का प्रयोग हुआ था। जिस मनीषी के मन में ऐसा विचार उद्‌भूत हुआ और उसने क्रियान्वित कर दिखाया, सचमुच उसका महान् ऋण है, जिसे संसार कभी भूल नहीं पायेगा।

धर्म आधार-भूमि बना और उस पर सामाजिकता के बीज बोये गये। प्रसन्नता की बात है, कुछ ही समय में छोटे से बीज ने विस्तार पाया और उसके मधुर फल सौजन्य, सौहार्द, एकता, भ्रातृत्व, सहिष्णुता आदि के रूप में मनुष्य के सामने आये। उस मनीषी की सूझ पर तात्कालिक मनुष्य ने श्रद्धा के अनगिन फूल चढ़ाये। किन्तु, कुछ ही समय बाद साम्प्रदायिकता के विषाक्त अणुओं ने उस वृक्ष को लील लिया और मधुर फलों में जहाँ-तहाँ विरोध, संघर्ष और झगड़ों के रूप में कषैलापन भी आने लगा। उदारता के खुल्ले आकाश में विचरण करने वाले धर्म पर संकीर्णता का नकाब डाल दिया गया और उसके उन्मुक्त सांस लेने के समस्त मार्ग रोक दिये गये। फलतः धर्म के नाम पर सम्प्रदाय पनपने लगे। इकाइयों को समष्टि में बदलने के उद्देश्य से उद्‌भूत धर्म पुनः छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित होकर समानान्तर दूसरी इकाई को काटने लगा। जीवन की अनिवार्य समस्याओं के समाधान से उसका सम्बन्ध टूट गया और वह स्वयं समस्या बनकर उभर आया।

सारे ही संसार में चेतना की लहर आई है। पृथकतावादी प्रवृत्तियों के मुखौटे उतरने लगे हैं। मानवीय एकता में पुनः विश्वास जमने लगा है। अन्तर इतना ही है कि यह कार्य धर्म के मंच से होना चाहिए था, पर, यह शिक्षा के विकास व मनोविज्ञान के प्रयोग पर हो रहा है। कारण यह है, धर्म गुरु चेतना की लहर के महत्त्व का यथार्थरूप में पर्याप्त अंकन कर नहीं पाये हैं। कुछ-कुछ ने अंकन किया है। जिन्होंने किया है, उन्होंने साम्प्रदायिकता के नकाब को उतार फेंका है और वास्तविकता की सतह पर आ गये हैं। विभिन्न धर्म-गुरुओं का यदा-कदा एक मंच पर एकत्र होना और उसके सार्व-देशिक अभ्युदय के लिए चिन्तन करना पुनः धर्म के असली स्वरूप तक पहुँचने का उपक्रम है। धर्म गुरुओं के समक्ष आज कई तरह के कार्य उपस्थित हो गये हैं। उनमें से कुछ हैं :

१—विभिन्न सम्प्रदायों के बीच समीपता को बढ़ाना तथा पृथकतावादी दृष्टिकोण को बदलना।

२—सम्प्रदायवादी वृत्तियों को हटाकर धर्म की वास्तविकता पर संकल्प-बद्ध होना।

३—मानसिक तनाव, उन्मुक्तता, स्वैराचार, दिशाहीनता आदि युवा-मानस की इन दैनिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना।

४—मध्यम-वर्ग, दलित वर्ग, शोषित वर्ग, सर्वहारा वर्ग आदि को केन्द्र मानकर मानव मात्र की समस्याओं का अध्यात्म के सहारे समाधान प्रस्तुत करना।

५—शोषक पूँजीपति वर्ग के प्रति रही हुई झूठी सहानुभूति को बदलना।

महावीर ने इन्हीं पांच पहलुओं को धर्म का आधार बनाया था। उनके दर्शन की उदारता थी, साधक के लिए जैन-वेश पहनना आव-श्यक नहीं। आवश्यक है, ऋजुता, सौजन्य, सद्भाव और मैत्री।